श्रीमदन्नम्भट्टविरचितः

तर्कसंग्रहः

(हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत व्याख्या सहित)



निर्देशक

डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा

व्याख्याकार

डॉ० सुदर्शन लाल जैन

सिद्ध सरस्वती प्रकाशन, वाराणसी

❊

प्रकाशक :—

संदीप कुमार

सिद्ध सरस्वती प्रकाशन

१, सी० एस० कालोनी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी—२२१००५

संस्करण : प्रथम

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :

सुधीरकुमार चतुर्वेदी

सुदर्शन मुद्रक,

६३/४२, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी

प्राक्कथन

'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' अर्थात् कणाद और पाणिनि के शास्त्र सर्वशास्त्रों के उपकारक हैं। कणाद मुनि वैशेषिक दर्शन के तथा गौतम मुनि न्यायदर्शन के प्रतिष्ठापक हैं। न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से तथा वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अधिकांश विषयों में समानता होने से दोनों को सामान्यतः 'न्यायशास्त्र' भी कहा जाता है। प्रमाणों के विषय में न्यायदर्शन का तथा प्रमेयों के विषय में वैशेषिकदर्शन का अनुसरण किया जाता है। अन्नम्भट्ट (१७वीं शताब्दी) कृत तर्कसंग्रह में यही पद्धति अपनाई गई है। न्याय-वैशेषिक शास्त्रों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'तर्कसंग्रह' बहुत उपयोगी है, अतः इसे विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखा गया है।

लोकप्रियता के कारण तर्कसंग्रह पर अनेक टीकायें लिखी गईं हैं। वे टीकायें या तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं या दुरूह। अतः छात्रों के लिए एक विस्तृत किन्तु सरल व्याख्या की आवश्यकता का अनुभव करके प्रस्तुत 'मनीषा' हिन्दी व्याख्या लिखी गई है। इसमें दीपिका, पदकृत्य, न्यायबोधिनी, सीता आदि विभिन्न संस्कृत टीकाओं का सारतत्त्व लिया गया है।

तर्कसंग्रह को सुबोधार्थ कई भागों में विभक्त किया गया है। मूल भाग के कोष्ठक [ ] में प्रश्न को जोड़ा गया है। मूलानुसार हिन्दी में अनुवाद देकर व्याख्या दी गई है। बीच-बीच में प्रश्नोत्तर-शैली को अपनाया गया है। यथावसर नव्यन्याय के पारिभाषिक शब्दों को भी समझाया गया है। तालिकाओं के द्वारा भी विषय स्पष्ट किया गया है।

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक का यह प्रथम संस्करण छात्रों के लिए उपयोगी होगा। प्रमाद अथवा शीघ्रता के कारण हुई अशुद्धियों को पाठकगण क्षमा करेंगे। गुरुजनों के आशीर्वाद तथा सुधीजनों एवं छात्रों के बहुमूल्य सुझाव आमन्त्रित हैं।

वीरेन्द्र कुमार वर्मा

सुदर्शन लाल जैन

विषय-सूची

तर्कसंग्रहः

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ॥

अनुवाद—जगदीश्वर (जगत्कर्त्ता परमेश्वर) को हृदय में धारण कर गुरु की वन्दना करके [न्यायशास्त्र में अनभिज्ञ] बालकों को सुखपूर्वक (अनायासेन) ज्ञान कराने के लिए तर्क संग्रह लिखा जा रहा है ।

व्याख्या—'निधाय०' इत्यादि श्लोक द्वारा ग्रन्थकार अन्नम्भट्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति तथा शिष्टाचार का पालन करने के लिए अभीष्ट देवता एवं गुरु को नमस्कार करते हुए अनुबन्धचतुष्टय (अवश्य ज्ञातव्य चार विषय) का प्रतिपादन करते हैं । अनुबन्धचतुष्टय हैं—(१) विषय (तर्कशास्त्र या न्याय-वैशेषिक-शास्त्र के सात पदार्थ), (२) अधिकारी (न्याय-वैशेषिकशास्त्र के पदार्थों के ज्ञानाभिलाषी अल्पज्ञ बालक), (३) प्रयोजन (न्यायशास्त्र का सुखपूर्वक बोध तथा परम्परया मोक्ष-प्राप्ति) और (४) सम्बन्ध (प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध) ।

प्रश्न—मङ्गल से ग्रन्थ-परिसमाप्ति का क्या सम्बन्ध है ? नास्तिकादि के ग्रन्थों में मङ्गल न होने पर भी उसकी परिसमाप्ति देखी जाती है तथा मङ्गल के होने पर भी कादम्बरी की अपरिसमाप्ति ।

उत्तर—कादम्बरी में विघ्न-बाहुल्य था जिससे मङ्गल होने पर भी पूर्ण नहीं हुई तथा किरणावली में ग्रंथ के बाहर मङ्गल किए जाने की सम्भावना है । वस्तुतः मङ्गल को विघ्नध्वंस के प्रति कारण माना जाता है और विघ्नध्वंस को ग्रन्थ-परिसमाप्ति के प्रति ।

इस तरह परम्परया मङ्गल भी ग्रन्थ-परिसमाप्ति के प्रति कारण है। वह मङ्गल ग्रन्थ के बाहर मानसिक आदि रूप से अथवा पूर्व-जन्मकृत भी हो सकता है। इतना विशेष है कि किया गया मङ्गल निर्विघ्न ग्रन्थ-समाप्ति के लिए है तथा लिखा गया मङ्गल निर्विघ्न ग्रन्थ-समाप्ति के साथ-साथ शिष्य-शिक्षा के लिए भी है।

प्रश्न—'बालः' और 'तर्कसंग्रहः' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—बालः—'अधीतव्याकरण-काव्यकोशोऽनधीतन्यायशास्त्रो बालः' जिसने व्याकरण आदि के ग्रन्थों का अध्ययन तो कर लिया है परन्तु न्यायशास्त्र नहीं पढा है ऐसा बालक (न शिशु और न प्रौढ)। **तर्कसंग्रहः**—'तर्क्यन्ते = प्रमितिविषयीक्रियन्त इति तर्काः = द्रव्यादिसप्तपदार्थाः तेषां संग्रहः = संक्षेपेणोद्देश-लक्षण परीक्षा यस्मिन् स ग्रन्थः' जो यथार्थज्ञान के विषय किए जाते हैं ऐसे द्रव्यादि सात पदार्थों का संक्षेप से उद्देश (परिगणन = नामोल्लेख मात्र, जैसे—द्रव्य, गुण इत्यादि। उद्देश का फल है 'पक्ष का ज्ञान'), लक्षण (असाधारण धर्म का कथन, जैसे—गन्धवती पृथिवी) और परीक्षा (लक्षण की युक्तियुक्तता का विचार) जिसमें है, ऐसा तर्क संग्रह नामक ग्रन्थ।

१. उद्देश-प्रकरणम्

[पदार्थाः कति, कानि च तेषां नामानि ?] द्रव्यगुण-कर्मसामान्यविशेषसमवाय भावाः सप्त पदार्थाः।

अनुवाद—[पदार्थ कितने हैं. और उनके क्या नाम हैं ?] पदार्थ सात हैं [और उनके क्रमशः नाम हैं]—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

व्याख्या—'पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्त्या अभिधेयत्वं पदार्थ-सामान्यलक्षणम्' अर्थात् अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व, प्रमितिविषयत्व आदि शब्दों से पदार्थ का बोध होता है। अतः जो ज्ञेय होगा वह अभिधेय

या प्रमिति का विषय भी होगा। ऐसे ज्ञेय तत्त्व को ही यहाँ पदार्थ शब्द से कहा गया है।

विभिन्न दार्शनिकों ने पदार्थों की संख्या विभिन्न प्रकार से मानी है : जैसे—गौतम मुनि ने प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थ माने हैं। सांख्यदर्शन में २५ तत्त्व माने गये हैं। वस्तुतः विभिन्न दर्शनों में पदार्थ शब्द का प्रयोग किसी एक विशेष अर्थ में नहीं किया गया है, अपितु तत्तत् दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों के लिए पदार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। गौतम मुनि के १६ पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं ७ पदार्थों में आगे बतलाया जाएगा। प्रारम्भ में कणाद मुनि ने ६ पदार्थों का ही विवेचन किया था जिसमें परवर्ती टीकाकारों ने अभाव जोड़कर ७ पदार्थ कर दिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं, परन्तु उनके ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—जब द्रव्य, गुण आदि का पृथक्-पृथक् निर्देश करने से ही सात की संख्या का बोध हो जाता है तो फिर सप्त पद क्यों दिया ?

उत्तर—पदार्थ सात से न कम हैं और न अधिक; इसीलिए 'सप्त' पद का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न—न्याय दर्शन में 'गुण' समवाय सम्बन्ध से केवल द्रव्य में पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'यह है एक', 'यह है एक' इस प्रकार 'सप्तत्व' संख्या जो गुण है वह गुणादि में कैसे रहेगी ?

उत्तर—पर्याप्ति नामक स्वरूप-सम्बन्ध से गुणादि में भी गुण का अस्तित्व माना गया है। ऐसा न मानने पर 'एकं रूपम्' (यह एक रूप है) इत्यादि अनुभूतियाँ नहीं हो सकेंगी। यहाँ एकत्व संख्या और रूप दोनों गुण हैं। अनुभूति के आधार पर यहाँ गुण में गुण का अस्तित्व समवाय सम्बन्ध से न मानकर पर्याप्ति सम्बन्ध से माना गया है। अतः सप्तत्व संख्या का गुणादि से सम्बन्ध बन जाता है।

प्रश्न—चन्द्रकान्त मणि-विशेष के रहने पर आग में दाहकता शक्ति नहीं देखी जाती और मणि के हटा लेने पर आग में दाहानुकूल

शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः शक्ति को भी अष्टम पदार्थ मानना चाहिए।

उत्तर—नहीं, क्योंकि मणि का अभाव ही दाह के प्रति कारण है। मणि के संयोग-वियोग को भी पदार्थ मानने पर अनन्त शक्तियों की तथा उनके अभाव, ध्वंस आदि की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः सात ही पदार्थ हैं।

[द्रव्याणि कति, कानि च तानि ?] तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

अनुवाद—[द्रव्य कितने हैं और वे कौन हैं ?] उनमें (द्रव्यादि सात पदार्थों में) (१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा और (९) मन—ये नौ ही द्रव्य हैं।

व्याख्या—द्रव्य के चार प्रकार से लक्षण किए जाते हैं—(१) **द्रव्यत्वजातिमत्त्वम्** (जिसमें द्रव्यत्व जाति रहती है), (२) **गुणवत्त्वम्** (जिसमें गुण रहते हैं। इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष है क्योंकि नैयायिकों के अनुसार द्रव्य जिस क्षण में उत्पन्न होता है उस क्षण में वह निर्गुण होता है। अतः इस दोष को दूर करने के लिए नैयायिक परिष्कृत भाषा में लक्षण भिन्न प्रकार से करते हैं। (३) **क्रियावत्त्वम्** (जिसमें क्रिया पाई जाए) और (४) **समवायिकारणत्वम्** (जिसमें समवायिकारणता पाई जाए)। ये सभी परिभाषाएँ पारिभाषिक हैं जो न्यायदर्शन के सिद्धान्तों को समझे बिना समझ में नहीं आ सकती हैं।

प्रश्न—'तमस्' (अन्धकार) को दसवाँ द्रव्य मानना चाहिए क्योंकि उसमें गुण और क्रिया पाई जाती है। जैसे—नीलं तमश्चलति (काला अन्धकार चलता है)। यहाँ तमस् में 'रूप' गुण होने से उसका वायु, आकाश आदि ६ में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। वायु, आकाश काल, आदि रूपरहित हैं। तमस् में स्पर्श न होने से तथा

गति न होने से भी वायु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श न होने से तेज में, शीत स्पर्श न होने तथा नील वर्ण होने के कारण जल में, गन्ध न होने तथा स्पर्श न होने से पृथिवी में भी तमस् का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है अर्थात् निर्गन्ध होने से पृथिवी में तथा नीलरूप होने से तमस् का जलादि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अतः यह एक 'दसवाँ' स्वतन्त्र द्रव्य है, फिर नौ ही द्रव्य कैसे हुए ?

उत्तर—'तमस्' केवल तेज का अभाव मात्र है, स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। तमस् में नीलवर्ण तथा गति की प्रतीति भ्रमात्मक है। दीपक के अपसरण की क्रिया के कारण ही 'नीलं तमश्चलति' में चलन क्रिया की भ्रमात्मक प्रतीति होती है। तेज को अन्धकार का अभाव नहीं माना जा सकता है क्योंकि तेज में उष्ण स्पर्श पाया जाता है। किञ्च, रूपवान् द्रव्य को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है जबकि अन्धकार को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। अन्धेरे में नील रूप का प्रत्यक्ष उसी प्रकार भ्रम है जिस प्रकार आकाश में नीलरूप का प्रत्यक्ष भ्रम है। वस्तुतः 'प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्याभावः' (प्रौढ़ प्रकाशक तेज सामान्य का अभाव) ही तमस् है। अतः द्रव्य नौ ही हैं। अन्य लोग भी अन्धकार को द्रव्य नहीं मानते हैं। तेज को सभी द्रव्य मानते हैं।

[कति गुणाः, के च ते] रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माऽधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः ।

अनुवाद—[गुण कितने हैं और वे कौन हैं ?]—गुण चौबीस हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) शब्द, (१६) बुद्धि, (१७) सुख,

(१८) दुःख, (१९) इच्छा, (२०) द्वेष, (२१) प्रयत्न, (२२) धर्म, (२३) अधर्म और (२४) संस्कार।

व्याख्या—दीपिका टीका में गुण की दो परिभाषाएँ दी गई हैं—(१) 'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः' (सामान्यवान् = जातिमान् पदार्थ को गुण कहते हैं परन्तु वह द्रव्य और कर्म से भिन्न हो) अथवा (२) 'गुणत्वजातिमान्' (जिसमें गुणत्व जाति रहती हो)। भाषापरिच्छेद (८६) में 'द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः' (जो स्वयं गुण और क्रिया से रहित हैं तथा द्रव्याश्रित हैं उन्हें गुण कहते हैं) कहा है तथा कणाद के वैशेषिक दर्शन (१।१।१६) में "द्रव्याश्रयीन गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण-लक्षणम्' बतलाया है। (संयोग और विभाग में अनपेक्ष अकारण, निर्गुण एवं द्रव्याश्रयी को गुण कहते हैं। यहाँ संयोग-विभाग में अनपेक्ष अकारण पद द्वारा कर्म में अतिव्याप्ति का वारण किया गया है क्योंकि संयोग-विभाग में कारण कर्म है)

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से गुण और कर्म दोनों रहते हैं। अतः गुण की परिभाषा में कर्म को पृथक् करने के लिए कर्मभिन्नत्व बतलाया गया है तथा स्वरूप-सम्बन्ध से गुणों में संख्यात्मक गुण का अस्तित्व माना जाने से 'निर्गुणत्व' पद का सन्निवेश किया गया है। इस तरह गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, कर्म से भिन्न हो, जाति से युक्त हो तथा निर्गुण हो।

कणाद ने वैशेषिक दर्शन (१।१।६) में १७ गुणों को गिनाया है—'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः (बुद्धयः) सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः'। यहाँ प्रयुक्त 'च' शब्द का आश्रय लेकर व्याख्याकारों ने गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द इन सात गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या २४ कर दी है। नव्यन्याय में २१ गुणों को गिनाया

गया है (परत्व एवं अपरत्व का विप्रकृष्टत्व और सन्निकृष्टत्व में अथवा ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व में अन्तर्भाव माना है। पृथक्त्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप माना है)। कुछ टीकाकारों ने लघुत्व मृदुत्व, कठिनत्व, आलस्य आदि को भी पृथक् गुण स्वीकार किया है परन्तु न्याय शास्त्र में ख्याति २४ गुणों की ही है।

इन २४ गुणों को **सामान्य गुण** (दो या उससे अधिक द्रव्यों में एक साथ रहने वाले) तथा **विशेष गुण** (एक समय में एक ही द्रव्य में रहने वाले) के भेद से दो भागों में भी विभक्त किया जाता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक-द्रवत्व, अदृष्ट (धर्म और अधर्म), भावना-संस्कार (संस्कार के तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक) और शब्द ये १४+२ विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असांसिद्धिक द्रवत्व (नैमित्तिक द्रवत्व), गुरुत्व और वेग (संस्कार भेद) ये ८+२ सामान्य गुण हैं। इस तरह संस्कार और द्रवत्व आंशिक रूप से दोनों में हैं।

मूर्त और अमूर्त के भेद से भी गुण तीन भागों में विभक्त किये जाते हैं—(१) **मूर्त गुण**—(जो गुण अमूर्त पदार्थों में नहीं रहते, न कि मूर्त में रहने वाले; अन्यथा संख्या में अतिव्याप्ति होगी) रूप रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग (संस्कार), स्थितिस्थापक (संस्कार) तथा गुरुत्व ये ९+२ गुण मूर्त हैं। (२) **अमूर्त गुण**—(जो गुण मूर्त में नहीं रहते, न कि अमूर्त में रहने वाले गुण; अन्यथा आकाशगत एकत्व में अतिव्याप्ति होगी) धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार), शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये ९+१ अमूर्त गुण हैं। (३) **उभयवृत्ति गुण**—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

गुणों का अन्य कई प्रकारों से (एकेन्द्रियग्राह्य, द्वीन्द्रियग्राह्य, अतीन्द्रियग्राह्य आदि) भी विभाजन किया जाता है जिसे कारिकावली (भाषापरिच्छेद) आदि ग्रन्थों से देख लेना चाहिए।

प्रश्न—किस द्रव्य में कौन-कौन से गुण होते हैं ?

उत्तर—(१) **पृथिवी में**—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग (संस्कार), गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस और गन्ध—ये १४ गुण हैं। (२) **जल में**—पृथ्वी के गुणों में गन्ध के स्थान पर स्नेह कर देने से जल के भी १४ गुण हैं। (३) **तेज में**—स्पर्शादि ८ तथा रूप, द्रवत्व और वेग (संस्कार)। (४) **वायु में**—स्पर्शादि ८ तथा वेग (संस्कार)। (५) **आकाश में**—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और शब्द। (६-७) **काल और दिशा में**—संख्यादि ५ गुण। (८) **आत्मा में**—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्यादि ५, भावना (संस्कार), धर्म और अधर्म—ये १४ गुण हैं। (९) **मन में**—संख्यादि ५, परत्व, अपरत्व, और वेग (संस्कार)—ये ८ गुण हैं। (१०) **ईश्वर में**—संख्यादि ५, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न—ये ८ गुण हैं।

[कियन्ति कर्माणि, कानि च तानि ?] उत्क्षेपणाऽपक्षेपणाऽऽकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।

अनुवाद—[कर्म कितने हैं और वे कौन हैं] कर्म पाँच हैं—(१) उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंकना या जाना), (२) अपक्षेपण (नीचे की ओर फेंकना या जाना), (३) आकुञ्चन (समेटना, सकुचना या एकत्रित होना), (४) प्रसारण (फैलाना या फैलना) और (५) गमन (अन्य सभी प्रकार की गति)।

व्याख्या—कर्म की कई परिभाषाएँ ग्रन्थों में मिलती हैं। जैसे—दीपिका टीका में 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म' (कर्म संयोग का असमवायिकारण तो है परन्तु स्वयं संयोग नहीं है)। (२) कणाद ने 'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम्' (कर्म एक द्रव्य में रहने वाला किन्तु गुण से भिन्न संयोग-विभाग में अनपेक्ष कारण है) कहा है। इस तरह कर्म उसे कहेंगे जिसके होने पर संयोग और विभाग अनिवार्य हों। कर्म

सामान्यतः गति का बोधक है। और गति प्रायः तीन प्रकार की होती है—ऊपर से नीचे की ओर, नीचे से ऊपर की ओर; और वक्र (तिर्यक्)। वक्रगति दो प्रकार की हो सकती है। दूरगामी और निकटगामी। शेष गतियों (भ्रमण, रेचन, स्पन्दन आदि) को गमन माना जाता है।

[सामान्यं कतिविधम् ?] परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

अनुवाद—[सामान्य कितने प्रकार का है ?] सामान्य दो प्रकार का है—(१) पर-सामान्य (जो अधिक देश में रहता है) और (२) अपर-सामान्य (जो कम देश में रहता है)।

व्याख्या—सामान्य वह है जो नित्य है, एक है और अनेक अधिकरणों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है (नित्यमेकमनेकानुगतम्)। घट अनित्य है परन्तु उसमें तथा अन्य अनेक घटों में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला घटत्व नित्य है, एक है, अतः वह सामान्य है। सामान्य को ही कालान्तर में 'जाति' नाम से कहा जाने लगा।

यह सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीन पदार्थों में ही रहता है। यह सामान्य (जाति) पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है। 'पर' वह है जो अधिक आश्रय में रहे और 'अपर' वह है जो अपेक्षाकृत उससे अल्प आश्रय में रहे। जैसे—सत्ता नाम की जाति अन्य सभी सामान्यों से अधिक आश्रय में रहने के कारण 'पर' है। 'घटत्व', 'पटत्व' आदि जातियाँ अल्प आश्रय में रहने के कारण 'अपर' हैं। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि परापर सामान्य हैं क्योंकि ये सत्ता की अपेक्षा अल्प देश वृत्ति हैं और घटत्वादि की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति। इसे ही क्रमशः तर्कामृत में व्यापक (सत्ता = परसामान्य), व्याप्य (घटत्व = अपर सामान्य) और व्याप्यव्यापक (द्रव्यत्व = परापर सामान्य) सामान्य कहा है। वस्तुतः पर और अपर का विभाजन सापेक्ष है। कणाद ने सामान्य और विशेष को वैशेषिक-

दर्शन (१।२।३) में बुद्धिसापेक्ष बतलाया है—'सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम् ।' कणाद के बुद्धि सापेक्ष सामान्य और विशेष से प्रस्तुत सामान्य और विशेष पदार्थ भिन्न हैं । अतः भ्रम नहीं होना चाहिए ।

जाति और उपाधि में अन्तर—अखण्ड और सखण्ड के भेद से सामान्य दो प्रकार का है । अखण्ड सामान्य जाति है और सखण्ड सामान्य उपाधि है । द्रव्यत्व, कर्मत्व, घटत्व आदि जातियाँ हैं । अन्धत्व, दण्डित्व आदि उपाधियाँ हैं । उदयनाचार्य ने निम्न कारिका में जाति बाधक छः कारण दिए हैं, जिनके कारण आपाततः प्रतीत होने वाला एक सामान्य गुण जाति नहीं कहलाता है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ।।

(१) **व्यक्तेरभेदः**—एक ही पदार्थ के होने पर जाति नहीं होती, जैसे—आकाशत्व । (२) **तुल्यत्वम्**—पर्यायवाची पदार्थों की पृथक्-पृथक् जाति नहीं होती, जैसे घटत्व और कलशत्व में दो अलग-अलग जातियाँ नहीं होती हैं । (३) **संकरः**—जिन सामान्य गुणों में परस्पर साङ्कर्य हो वे जाति नहीं हैं, जैसे—भूतत्व एव मूर्तत्व । 'आकाश' भूत है परन्तु मूर्त नहीं । 'मनस्' मूर्त है परन्तु भूत नहीं । आकाशातिरिक्त शेष चार (पृथिवी, अप, तेज और वायु) भूत भी हैं और मूर्त भी हैं । (४) **अनवस्थितिः**—जाति की भी जाति मानने पर अनवस्था दोष होगा, जैसे—घटत्वत्व । (५) **रूपहानिः**—विशेष की विशेषत्व जाति मानने पर विशेष के स्वरूप की हानि होगी । (६) **असम्बन्ध**—जो परस्पर असम्बद्ध हों उनकी भी जाति नहीं होती । जैसे—समवायत्व ।

इस तरह जाति एक विशेष प्रकार का तत्त्व है जो उक्त दोषों से रहित स्थलों में ही होता है । इसके अतिरिक्त उपाधि वह है जो अनेक व्यक्तियों में तो रहती हो परन्तु सांकर्यादि दोषों से युक्त हो । जैसे - मनुष्यत्व एक जाति है परन्तु कृष्णत्व उपाधि है (जाति नहीं) क्योंकि कृष्णत्व में मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं आदि का भी संग्रह होने से सांकर्य दोष है ।

[कियन्तो विशेषाः ?] नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव ।

अनुवाद—[विशेष कितने हैं ?] केवल नित्य द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये सभी नित्य द्रव्य माने जाते हैं) में रहने वाले विशेष अनन्त ही हैं ।

व्याख्या—विशेष पदार्थ की महत्ता के कारण ही यह दर्शन 'वैशेषिक दर्शन' कहा जाता है । कणाद ने वैशेषिक दर्शन में इस पर विचार करते हुए उसे 'अन्त्य' (अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः) कहा है जिससे यह विशेष पदार्थ परमाणु आदि नित्य द्रव्यों (अन्त्य) में रहता है । उनका कहना है कि घट-पटादि का सजातियों एवं विजातियों में परस्पर भेद तो अवयव-भेद से किया जा सकता है परन्तु निरवयव परमाणुओं के परस्पर भेद को बतलाने के लिए विशेष की आवश्यकता होती है । विशेष परस्पर स्वतः भिन्न हैं । अतः उनमें परस्पर भेद के लिए किसी अन्य भेदक तत्त्व की आवश्यकता न होने से अनवस्था दोष का भी प्रसङ्ग नहीं है । इससे यह भी स्पष्ट है कि सावयव द्रव्यों में विशेष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । विशेष को नित्यद्रव्यवृत्ति कहा है अर्थात् ये विशेष पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं में तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन (मन परमाणु रूप माना गया है) इन नित्य द्रव्यों में रहते हैं । प्रत्येक नित्य पदार्थ में पृथक्-पृथक् रूप से रहने के कारण ये विशेष संख्या में अनन्त हैं । नव्य नैयायिक, मीमांसक और वेदान्ती इस विशेष को नहीं मानते हैं ।

विशेष की कुछ परिभाषाएँ—(१) जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यवृत्तिः (जाति से रहित होते हुए जो नित्य द्रव्यों में रहने वाला हो), (२) एकमात्रसमवेतत्वे सति सामान्यशून्यः (एकमात्र समवेत होकर भी सामान्य से शून्य)।

[समवायः कतिविधः ?] समवायस्त्वेक एव ।

अनुवाद—[समवाय = नित्य सम्बन्ध कितने प्रकार का है ?] समवाय एक ही है।

व्याख्या—समवाय एक विशेष प्रकार के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है। यह संयोग की तरह गुण नहीं है अपितु स्वतन्त्र पदार्थ है। समवाय को स्पष्ट करते हुए अन्नम्भट्ट ने कहा है कि समवाय उन दो पदार्थों में जो सदा अविभक्त रहते हैं, रहने वाला नित्य सम्बन्ध है। संयोग गुण है तथा अनित्य सम्बन्ध है। घट के कपालद्वय का परस्पर सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है, क्योंकि वे दोनों घटोत्पत्ति के पूर्व पृथक्-पृथक् थे तथा घट-नाश के द्वारा भी पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं। परन्तु घट का कपालद्वय के साथ जो सम्बन्ध है वह समवाय है, क्योंकि घट उन कपालों से पृथक् न कभी था और न कभी हो सकता है। अतः घट और कपाल परस्पर अयुतसिद्ध हैं। निम्न ५ स्थलों में अयुतसिद्ध = समवाय सम्बन्ध माना गया है—(१) अवयव और अवयवी में, जैसे—कपालद्वय और घट में (कपालद्वय में घट समवाय सम्बन्ध से रहता है)। (२) गुण और गुणी में, जैसे—रूपादि गुण घट (गुणी) में। (३) क्रिया और क्रियावान् में, जैसे—उत्क्षेपण आदि क्रिया घट (क्रियावान्) में। (४) जाति और व्यक्ति में, जैसे—घटत्व घट में। (५) विशेष और उसके अधिकरण नित्य द्रव्य में, जैसे जलपरमाणु विशेष जलपरमाणु में।

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ कारिकावली ११ ॥

न्यायदर्शन में समवाय का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसके कार्य-कारण के सिद्धान्त का आधार समवाय ही है। सांख्य, वेदान्त, जैन आदि दर्शनों में समवाय-सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अन्यत्र इसे अभेद सम्बन्ध या तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है, परन्तु स्वरूप में अन्तर है।

न्याय दर्शन का समवाय नित्य सम्बन्ध माना जाता है परन्तु उसकी नित्यता आपेक्षिक (कुछ विशेष प्रकार की) है। जैसे घटादि कार्य के नष्ट हो जाने पर वह समवाय भी नष्ट हो जाता है। अतः समवाय की नित्यता से तात्पर्य है—'घटादि कार्य को उत्पन्न किये बिना न तो इसे उत्पन्न किया जा सकता है और न घटादि कार्य को नष्ट किए बिना इसे नष्ट किया जा सकता है। अर्थात् घटादि कार्य के साथ ही यह उत्पन्न होता है और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाता है। परन्तु जब तक घट रहता है उससे वह कभी भी किसी भी प्रकार से अलग नहीं होता है।' यही उसकी नित्यता है। अतः कुछ नव्य नैयायिक इसे नित्य नहीं मानते हैं।

समवाय को अन्नम्भट्ट ने एक ही बतलाया है। नैयायिक समवाय को प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु कुछ लोग (अन्नम्भट्ट भी) अनुमेय मानते हैं, क्योंकि आकाश के प्रत्यक्ष न होने से आकाशगत शब्द का समवाय प्रत्यक्ष कैसे होगा ? समवाय समवायियों में समवाय सम्बन्ध से न रहकर तादात्म्य सम्बन्ध से ही रहता है, अन्यथा अनवस्था दोष होगा।

[अभावः कतिविधः ?] अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ।

[इति उद्देशप्रकरणम्]

अनुवाद—[अभाव कितने प्रकार का है ?] अभाव चार प्रकार का है—(१) प्रागभाव (कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कपाल-द्वय में रहने वाला) (२) प्रध्वंसाभाव या विनाश (कार्योत्पत्ति के पश्चात्

नष्ट घट में रहने वाला), (३) अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) और (४) अन्योन्याभाव या भेद (वस्तु का तादात्म्य-सम्बन्ध से स्वेतर वस्तु में न रहना)।

[उद्देश प्रकरण समाप्त]

व्याख्या—अभाव का अर्थ है—भाव-भिन्न। अतः अभाव का लक्षण किया है—'प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्' जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोधी = शत्रुभूत) पदार्थ के ज्ञान पर आधारित हो। जैसे—'घटाभाववद् भूतलम्' यह भूतल घटाभाव वाला है। अर्थात् यहाँ घट नहीं हैं। यहाँ घटाभाव का प्रतियोगी (विरोधी) है 'घट'। उस प्रतियोगी घट की इस भूतल पर अनुपस्थिति है। अतः यहाँ घटाभाव है। इस तरह घट के अभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी घट के ज्ञान पर आधारित हुआ।

अभाव का नैयायिकों ने प्रत्यक्ष माना है। उनका कहना है कि अभाव विशेषणता सम्बन्ध से अधिकरण से सम्बद्ध रहता है। यह न तो समवाय सम्बन्ध से कहीं रहता है और न इसमें कोई समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः जब 'घटाभाववद् भूतलम्' कहा जाता है तो उसका अर्थ है भूतल घटाभाव से विशिष्ट है। यही विशेषणता सम्बन्ध से अभाव का अधिकरण में रहना है।

कुछ लोगों का कहना है कि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में अभाव पदार्थ को नहीं गिनाया है परन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त 'कारणाभावात् कार्याभावः' आदि प्रयोगों को देखकर व्याख्याकारों ने अभाव को पृथक् पदार्थ मान लिया है। वस्तुतः इस भ्रम का कारण प्रक्षिप्त पाठ है। अभाव के जो चार भेद किये गये हैं वे आपेक्षिक भेद हैं, वास्तविक नहीं, क्योंकि अभाव भूतल का कोई विशेषण नहीं है, अपितु भूतल को केवल भूतल के ही रूप में कहने का एक प्रकार है।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव को संसर्गाभाव भी कहा जाता है। अतः संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से

अभाव के दो भेद भी किये जाते हैं। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण (प्रथमान्त) होते हैं और संसर्गाभाव में एक अधिकरण होता है और दूसरा आधेय। क्रमशः इनके स्वरूप निम्न हैं—

(१) **प्रागभाव**—(उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य) घटादि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कपालादि में रहने वाला जो घटादि का अभाव है वह प्रागभाव है। अर्थात् जिसका विनाश तो होता हो परन्तु जिसकी उत्पत्ति न होती हो वह प्रागभाव है। अतः इसे अनादि और सान्त माना जाता है। जैसे—घटोत्पत्ति के पूर्व कपालादि में घट का अभाव प्रागभाव है।

(२) **प्रध्वंसाभाव**— (**उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य**) पत्थर आदि के प्रहार से घटादि कार्य के नष्ट हो जाने पर होने वाला घटादि कार्य का अभाव है प्रध्वंसाभाव अर्थात् जिसकी उत्पत्ति तो होती है परन्तु विनाश नहीं होता है। अतः सादि और अनन्त माना जाता है। जैसे—टूटे हुए घट के टुकड़ों में घट का प्रध्वंसाभाव है।

(३) **अत्यन्ताभाव**—(**त्रैकालिक-संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकः**) त्रैकालिक अभाव है अत्यन्ताभाव। अर्थात् जिसकी न तो उत्पत्ति हो और न नाश हो परन्तु जिसकी प्रतियोगिता संयोग, समवाय आदि किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न (युक्त) हो, वह है अत्यन्ताभाव। जैसे—वायु में रूप का अभाव है। इसी प्रकार 'इस घर में घट नहीं है' इस ज्ञान का विषय भी है अत्यन्ताभाव।

(४) **अन्योन्याभाव**—(**तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः**) 'घट पट नहीं है और पट घट नहीं है' इस ज्ञान का विषय जो अभाव है वह है अन्योन्याभाव या पारस्परिक अभाव। इसे ही पारिभाषिक शब्दों में कहेंगे जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य नामक संबंध से अवच्छिन्न हो। तादात्म्य सम्बन्ध से वस्तु अपने में ही रहती है और जहाँ जो वस्तु जिस सम्बन्ध से नहीं रहती है वहाँ उस वस्तु का तत्सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव रहता है। जैसे—तादात्म्य

संबंध से घट-घट में ही रहता है, अन्यत्र नहीं रहता है। पट-पट में .. त्म्य सम्बन्ध से रहता है; अन्यत्र नहीं रहता है। अतः घट को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र पटादि में घट का तथा पट को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र घटादि में पट का तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव रहेगा, वही है घट का पट में और पट का घट में अन्योन्याभाव (घटे पटत्वं नास्ति, पटे घटत्वं नास्ति)। अन्योन्याभाव में दोनों पद समानाधिकरण वाले (प्रथमान्त) होते हैं। जैसे—'घटः पटो नास्ति'। इसका विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।

[उद्देश प्रकरण समाप्त]

२. द्रव्यलक्षणप्रकरणम्

[पृथिव्याः किं लक्षणं, कति च भेदाः ?] तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा। नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

अनुवाद—[पृथिवी का स्वरूप क्या है और उसके कितने भेद हैं ?] उनमें (पूर्वोक्त पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में) पृथिवी वह है जिसमें (समवायसम्बन्ध से) गन्ध गुण रहता है। वह पृथिवी दो प्रकार की है—(१) नित्य पृथिवी और (२) अनित्य पृथिवी। परमाणुरूप पृथिवी नित्य पृथिवी है और कार्यरूप पृथिवी (घटपटादि रूप या द्वयणुक से लेकर महापृथिवीरूप समस्त उत्पत्तिशील पृथ्वी) अनित्य पृथिवी है। पुनः (वह कार्यरूपा अनित्य पृथिवी) शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार की है। हम लोगों का शरीर शरीरात्मक पृथिवी (पार्थिव शरीर) है। नासिका के अग्रभाग में स्थित गन्ध गुण को ग्रहण करने वाली घ्राण इन्द्रियात्मक पृथिवी (पार्थिव इन्द्रिय) है। मृत्तिका पत्थर आदि (घट, पट आदि) विषयात्मक पृथिवी (पार्थिव विषय) है।

व्याख्या—यद्यपि पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श गुण पाए जाते हैं 'रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी' (वैशेषिकदर्शन २।१।१) परन्तु लक्षण कोटि में केवल असाधारण गुण को ही गिनाया गया है। लक्षण कोटि में असाधारण गुण ही बतलाया जाता है जिससे अन्य द्रव्यों के साथ पार्थक्य स्पष्ट किया जा सके। गन्ध पृथिवी का असाधारण गुण है जो केवल पृथिवी में पाया जाता है। जलादि में जो गन्ध की प्रतीति होती है वह पृथिवी के कणों के सम्मिश्रण के कारण होती है। पत्थर आदि में जो गन्ध की प्रतीति नहीं होती है उसका कारण है वहाँ पर गन्ध गुण का अनुद्भूतरूप में रहना। उत्पद्यमान द्रव्य क्षण भर के लिए निर्गुण माना जाता है और तदनुसार उस समय पृथिवी में गन्ध गुण भी नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में 'गन्धवत्व' लक्षण का अर्थ होगा। 'गन्धवज्जातीयत्व' या 'गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्व'। इस तरह उत्पत्तिकालीन गन्धहीन घट में भी गन्धवज्जातीयत्व रहने से कोई दोष (अव्याप्ति दोष) नहीं है। परिष्कृत लक्षण को इस प्रकार समझा जाएगा—गन्ध के अधिकरण द्वितीय क्षणादिकालीन घट में रहने वाली जो जाति 'पृथिवीत्व' है वह (तद्वृत्ता) उत्पत्तिकालीन घट में भी है। यद्यपि दैशिक और कालिक सम्बन्ध से दिशा और काल में भी गन्धवत्त्व पाया जाता है परन्तु इन दोनों में लक्षण न जाए एतदर्थ समवाय सम्बन्ध से गन्धवत्त्व कहा है। यही 'वत्' शब्द का अर्थ है।

शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से कार्यरूपा अनित्या पृथिवी का ही विभाजन अभिप्रेत है, न कि सम्पूर्ण पृथ्वी का। ऐसा ही अर्थ जलादि के विषय में भी समझना चाहिए। 'शरीर' का अर्थ है 'आत्मनो भोगायतनम्' (आत्मा के भोग का स्थान) अथवा अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयम्' (जिसमें स्वतन्त्र चेष्टा हो और जो अन्तिम अवयवी हो)। इन्द्रिय शब्द का अर्थ है—'शब्देतरोद्भूत-

विशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्' (जो मन के संयोग से ज्ञान का कारण हो परन्तु स्वयं शब्द के अलावा किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न हो)। विषय शब्द का अर्थ है—शरीर और इन्द्रिय से भिन्न निर्जीव पाषाणादि ज्ञेय पदार्थ। इस तरह यहाँ 'विषय' शब्द एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, समस्त ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में नहीं। परमाणुओं को विषय माना जाए कि नहीं इस विषय में मतभेद है। इसी तरह 'वृक्ष को विषय माना जाए या शरीर' इस विषय में भी मतभेद है।

[जलस्य किं लक्षणं, कति च भेदाः ?] शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः। नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः अनित्या कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

अनुवाद--[जल का क्या स्वरूप है और उसके कितने भेद हैं ?] जल वह है जिसमें (समवाय सम्बन्ध से) शीतल स्पर्श नामक गुण पाया जाता है। जल दो प्रकार का होता है--(१) नित्य जल और (२) अनित्य जल। परमाणुरूप जल नित्य जल है तथा कार्यरूप जल (नदी आदि रूप या द्व्यणुक आदि रूप) अनित्य जल है। पुनः (वह कार्यरूप अनित्य जल) शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। जैसे—वरुण लोक में [प्राणियों का शरीर जलात्मक है, अतः उनका शरीर] शरीरात्मक जल (जलीय शरीर) है। जिह्वा के अग्रभाग में स्थित रस गुण को ग्रहण करने वाली जीभ इन्द्रियात्मक जल (जलीय इन्द्रिय) है। नदी, समुद्र आदि (तालाब, कूप आदि) विषयात्मक जल (जलीय विषय) है।

व्याख्या-- 'शीतल स्पर्श होना' जल का स्वरूप है। अन्य पाषाणादि द्रव्यों में जो शीतलता देखी जाती है वह जल के सम्बन्ध

के ही कारण है। यहाँ भी पृथिवी की ही तरह 'शीतस्पर्शवत्त्व' का अर्थ है—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व।' शेष निरूपण पृथिवी के ही समान है। यहाँ यह विचारणीय है कि पार्थिव शरीर तो प्रत्यक्ष है परन्तु जलीय-शरीर जलमय कैसे है ? जलीय शरीर वरुण लोक में माना गया है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। टीकाकारों ने जलीय शरीर में स्थिरता प्रदान-हेतु उसमें पार्थिव का अल्प सम्मिश्रण माना है। जलीय इन्द्रिय की भी यही स्थिति है परन्तु जलीय इन्द्रिय जिह्वा प्रत्यक्ष है।

[तेजसः किं लक्षणं, के च भेदाः ?] उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधम्। नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्य-लोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्योदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्या-दिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतु-रुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

अनुवाद--[तेज का क्या स्वरूप है और उसके कितने भेद हैं ?] तेज वह है जिसमें [समवाय सम्बन्ध से] उष्ण स्पर्श (गुण) हो। वह तेज दो प्रकार का है—नित्य तेज और अनित्य तेज। परमाणुरूप तेज नित्य तेज है और कार्यरूप तेज (वह्नि आदि या द्व्यणुकादि रूप तेज) अनित्य है। पुनः [कार्यरूप अनित्य तेज] शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। शरीरात्मक तेज (तैजस शरीर) आदित्य (सूर्य) लोक में प्रसिद्ध है। रूप गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने वाली आंख जो काली पुतली के अग्रभाग में स्थित है वह इन्द्रियात्मक तेज (तैजस इन्द्रिय) है। तैजस विषय भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज के भेद से चार प्रकार का होता है। अग्नि आदि (जुगनू आदि) भौम तेज हैं [क्योंकि वह भूमिरूप इन्धन से उत्पन्न

होता है]। जलरूप इन्धन से प्रादुर्भूत विद्युद् आदि (वड़वाग्नि आदि। सूर्य, चन्द्र आदि भी दिव्य तेज में गिनाये जाते हैं) दिव्य तेज हैं। खाई हुई (भुक्त) वस्तुओं को पचाने वाली जठराग्नि (खाये गये अन्न एवं पिये गये जल आदि को रसादिरूप में परिणत करने वाली उदरस्थ अग्नि) उदर्य तेज है। सुवर्ण आदि (चाँदी आदि धातुयें) आकरज (खानों से उत्पन्न) तेज हैं।

व्याख्या—'उष्ण स्पर्श होना' तेज का स्वरूप है। अन्य द्रव्यों में जो उष्णता देखी जाती है वह तेज के परमाणुओं के सम्बन्ध के ही कारण है। यहाँ भी पृथिवी की तरह 'उष्णस्पर्शवत्त्व' का अर्थ जाति पद से तेजस्त्व करना चाहिए 'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्य-जातिमत्त्वम्'। शेष निरूपण पृथिवी के ही समान है।

तेज के सम्बन्ध में कुछ चिन्तनीय बातें—

(१) सुवर्ण आदि का तैजसत्व—सुवर्ण, चाँदी आदि खानों से उत्पन्न होने वाली धातुओं को न्यायदर्शन में तैजस् माना गया है। उनका कहना है कि ये धातुयें तीव्र आग पर तपाने से नष्ट नहीं होती हैं, अतः ये पृथिवी तत्त्व नहीं हैं। जल की तरह स्वाभाविक 'तरलता' न होने से जल भी नहीं हैं। रूप होने से वायु भी नहीं हैं। आकाशादि पाँच तत्त्वों में समावेश का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अतः सुवर्ण में पार्थिव धर्म गुरुत्व और पीतत्व को देखकर हल्दी आदि के समान पार्थिव न मानकर तैजस मानना चाहिए। सुवर्ण में भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श उपलब्ध न होने का कारण है पार्थिव रूप एवं स्पर्श से आच्छन्न रहना। पीत रूप और गुरुत्व पार्थिव अंश हैं तथा उस पार्थिव अंश को अत्यन्त तीव्र अग्नि-संयोग के होने पर भी नष्ट होने से रोकने वाला (प्रतिबन्धक) तत्त्व ही वास्तविक सुवर्ण है। मीमांसकों ने इन धातुओं को तैजस न मानकर पृथक् द्रव्य माना है।

(२) चक्षु इन्द्रिय—आधुनिक विज्ञान के अनुसार चक्षु की कृष्ण तारिका केवल बाह्यप्रकाश के अन्दर जाने का मार्ग है। रूप का ग्राहक

रैटीना है। नैयायिकों की मान्यता है कि चक्षु से तेज की किरणें निकलकर बाह्य पदार्थ तक जाती हैं तथा उसे छूकर जानती हैं। इसे ही दार्शनिक शब्दावलि में चक्षु की प्राप्यकारिता कहा जाता है। परन्तु जैन दार्शनिक चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं। तदनुसार इन्द्रिय बाहर नहीं जाती है अपितु पदार्थ पर पड़ने वाली प्रकाश की किरणें ही उस पदार्थ को रैटीना से सम्बन्धित करा देती हैं।

(३) अन्य विभाजन- वैशेषिकदर्शन के उपस्कारभाष्यकार शंकर मिश्र ने तेज का चतुर्विध विभाजन किया है—(१) उद्भूत-रूप-स्पर्श (जिनमें प्रकट रूप भी है और स्पर्श भी है जैसे - सूर्य आदि का प्रकाश), (२) उद्भूतरूप तथा अनुद्भूतस्पर्श (जिनमें प्रकट रूप तो है परन्तु स्पर्श प्रकट नहीं है, जैसे—चन्द्रमा का प्रकाश), (३) अनुद्भूतरूपस्पर्श (जिनमें रूप और स्पर्श प्रकट नहीं हैं, जैसे—नेत्र की ज्योति) और (४) अनुद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श (जिनमें रूप तो अप्रकट है परन्तु स्पर्श प्रकट, जैसे—तपा हुआ घड़ा)।

[वायोः किं लक्षणं, के च भेदाः ?] रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषय-भेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक्सर्व-शरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः।

शरीरान्तःसंचारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधि-भेदात्प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

अनुवाद -[वायु का क्या लक्षण है तथा उसके कितने भेद हैं ?] वायु वह है जो रूप से रहित होकर भी स्पर्शवान् (स्पर्शन इन्द्रिय से ज्ञेय) हो। वह वायु दो प्रकार का है—(१) नित्य और (२)

अनित्य। नित्य वायु परमाणुरूप है और अनित्य वायु कार्यरूप है। शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से अनित्य वायु पुनः तीन प्रकार का है। शरीरात्मक वायु (वायवीय शरीर) वायुलोक में है। इन्द्रियात्मक वायु (वायवीय इन्द्रिय) स्पर्श (उष्ण, शीतल आदि स्पर्श) की ग्राहक त्वगिन्द्रिय है जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। विषयात्मक वायु (वायवीय विषय) वृक्ष आदि (जल आदि) को हिलाने वाला है। शरीर के अन्दर सञ्चार करने वाले वायु को 'प्राण' (प्राणवायु) कहते हैं। यद्यपि वह प्राणवायु एक ही है परन्तु उपाधि के भेद से प्राण, अपान आदि (समान, उदान और व्यान) संज्ञाओं (नामों) को प्राप्त होता है। अर्थात् हृदयस्थ वायु को प्राणवायु, गुदाभागस्थ वायु को अपान वायु; नाभिप्रदेशस्थ वायु को समान वायु, कण्ठदेशस्थ वायु को उदान वायु तथा सम्पूर्ण शरीर-व्यापी वायु को व्यान वायु कहते हैं। इस तरह वह एक ही वायु आश्रय के भेद से पाँच भागों में विभक्त हो जाता है।

व्याख्या—रूप-रहित स्पर्शवान् को वायु कहा गया है। इसका स्पर्श अनुष्णाशीत (न उष्ण और न शीतल) माना गया है। अतः जल और तेज में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। रूपरहित होने से पृथिव्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। केवल रूपरहित कहने पर आकाशादि में अतिव्याप्ति होती, अतः स्पर्शवान् भी कहा है। केवल स्पर्शवान् कहने से पृथिव्यादि में अतिव्याप्ति होती। प्राण को भी वायु के अन्तर्गत बतलाया गया है। उस प्राण के ही उपाधि-भेद से पांच भेद किए गये हैं। अर्थात् शरीर के भीतर विभिन्न स्थानों पर पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए संचार करने वाली वायु को ही प्राणादि के नाम से अभिहित किया जाता है। कहा है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥'

'वायु का प्रत्यक्ष होता है या नहीं' इस विषय में नैयायिकों के दो मत हैं—(१) प्राचीन नैयायिकों (अन्नम्भट्ट भी) के अनुसार वायु

प्रत्यक्षगम्य न होकर अनुमेय है। उनका हेतु है कि प्रत्यक्ष होने के लिए स्पर्शवान् के साथ उद्भूत रूपवान् भी होना चाहिए। अतः वे अनुष्णाशीतस्पर्श से वायु को अनुमेय मानते हैं—स्पर्शानुमेयो वायुः। तथाहि—योऽयं वायौ वाति सति अनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रित, गुणत्वात्, रूपवत्। (२) नव्यनैयायिकों के अनुसार वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। इनका कथन है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के ही लिए उद्भूतरूप होना आवश्यक है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वायु एक प्रकार की गैस है।

[आकाशस्य किं लक्षणं, कतिविधं च तत् ?]
शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।

अनुवाद—[आकाश का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है ?] आकाश वह है जिसमें [समवाय सम्बन्ध से] शब्द गुण विद्यमान हो। वह आकाश एक है, व्यापक है और नित्य है।

व्याख्या—शब्द गुण के आश्रय को आकाश कहा गया है। आकाश को अनेक मानने का कोई प्रयोजन न होने से वह एक है। 'घटाकाश' आदि व्यवहार औपाधिक है। सभी मूर्त द्रव्यों (पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन) से संयुक्त होने के कारण व्यापक है। व्यापक होने से नित्य है। पृथिवी, जल, तेज और वायु के साथ आकाश को भी भूत माना जाता है क्योंकि इनके विशेषगुण (गन्ध, रस, रूप स्पर्श और शब्द) बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं अथवा किसी कार्य का उपादान कारण होना 'भूत' होने का नियामक है। आकाश भी शब्द-गुण का उपादान कारण होने से भूत है। परिच्छिन्न (सीमित) परिमाण न होने से अथवा क्रिया का आश्रय न होने से आकाश को पृथिव्यादि की तरह मूर्त नहीं माना जाता है। वह काल आदि की तरह अमूर्त है।

प्रश्न—जैसे पृथिव्यादि की परिभाषाओं में 'गुण' पद का सन्निवेश नहीं है उसी प्रकार यहाँ भी 'शब्दवदाकाशम्' कहा जा सकता था,

फिर क्यों गुण पद अधिक दिया गया ?

उत्तर—न्यायबोधिनीकार का कहना है कि आकाश में एक शब्द मात्र ही विशेष गुण रहता है, अन्य विशेष गुण नहीं, अतः यहाँ गुण शब्द का प्रयोग विशेष गुण के अर्थ में किया गया है। वाक्यवृत्तिकार तथा सिद्धान्तचन्द्रोदयकार के अनुसार यहाँ गुण शब्द का प्रयोग भाट्ट-मीमांसकों के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए किया गया है क्योंकि वे शब्द को पदार्थ मानते हैं, गुण नहीं। शब्द एक जन्य-विशेष-गुण है परन्तु वह संयोग-जन्य नहीं है। परमाणुओं के जन्यविशेषगुण संयोग-जन्य हैं। अतः सर्वदर्शनसंग्रह में आकाश को प्रकारान्तर से 'संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणम्' कहा है।

[कालस्य किं लक्षणं, कति च भेदाः ?] अतीतादि-व्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।

अनुवाद—[काल का क्या स्वरूप है और उसके कितने भेद हैं ?] अतीत (भूत) आदि (भविष्य एवं वर्तमान) के व्यवहार (वाक्य-प्रयोग) का जो [निमित्त] कारण है उसे काल कहते हैं। अर्थात् जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान का व्यवहार होता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। वह काल द्रव्य एक है, व्यापक है और नित्य है।

व्याख्या—'था', 'है' और 'होगा' इस प्रकार 'वाक्य-प्रयोग' रूप व्यवहार जिस द्रव्य के आश्रय से हो अथवा जो उक्त व्यवहार के प्रति निमितकारण हो वह काल है। यदि 'व्यवहारहेतु' मात्र को काल कहेंगे तो 'यह घट है' इस प्रकार के व्यवहार को लेकर घटादि भी काल हो जायेंगे। अतः लक्षण में 'अतीतादिव्यवहारहेतुः' कहा है। यहाँ 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है 'वाक्य-प्रयोग' और 'हेतु' शब्द का अर्थ है 'असाधारण निमित्तकारण'।

प्रश्न—व्यवहार (वाक्य-प्रयोग) समवाय संबन्ध से आकाश में रहता है क्योंकि अतीतादि-व्यवहार शब्दरूप है। अतः आकाश

कालात्मक व्यवहार का समवायिकारण होने से अतीतादि-व्यवहार का हेतु है, इस तरह लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। यदि इस दोष के निराकरणार्थ काल को निमित्तकारण मानेंगे तो कण्ठ-तालु-संयोग में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि कण्ठ-तालु-संयोग अतीतादि वाक्य-प्रयोग के प्रति निमित्तकारण है।

उत्तर—इस दोष के निराकरणार्थ लक्षण में 'विभुत्व' पद जोड़ा जाता है अर्थात् 'अतीतादिव्यवहारहेतुत्वे सति विभुत्वं कालत्वम्'। कण्ठ-तालु-संयोग विभु नहीं है, अतः उक्त लक्षण दोषरहित है। दीपिका टीका में दूसरा लक्षण दिया है 'सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्त-कारणं च' (काल सबका आधार है और समस्त कार्यों के प्रति निमित्तकारण है)। ईश्वर की इच्छा में अतिव्याप्ति दूर करने के लिए लक्षण में कालिकसम्बन्धेन' पद जोड़ना होगा ? तदनुसार 'कालिकसम्बन्धेन सर्वाधारत्वे सति सर्वकार्ये निमित्तकारणत्वम्' होगा। कालिक-संबन्ध से काल सभी वस्तुओं का आधार होते हुए सभी कार्यों के प्रति निमित्तकारण है।

घटाकाश आदि की तरह अतीतादि कालभेद औपाधिक (अवास्तविक) है। काल संख्या में एक है और व्यापक है। काल की गणना यद्यपि भूत द्रव्यों में की जाती है परन्तु उसे अमूर्त माना जाता है। कुछ नैयायिक क्षणात्मक काल को प्रमुख मानते हैं। जैन-दर्शन में काल को अणुरूप और सर्वत्र उन अणुओं के वर्तमान होने से उन्हें संख्या में अनन्त माना है।

[दिशः किं लक्षणं, कतिविधा च सा ?] प्राच्यादिव्य-वहारहेतुर्दिक्। सा चैका नित्या विभ्वी च।

अनुवाद—(दिशा का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार की है ?] प्राची (पूर्व) आदि (पश्चिम, दक्षिण और उत्तर) के व्यवहार का जो कारण [द्रव्य] है वह दिशा है। वह दिशा एक है, नित्य है और व्यापक है।

व्याख्या—'यह पूरब है', 'यह पश्चिम है' इत्यादि व्यवहार जिस द्रव्य से होता है उसे 'दिक्' (दिशा) कहते हैं। इस तरह दिशा की परिभाषा काल की ही तरह दी गई है। कारिकावली में 'दूरान्तिकादिधीहेतुः' पदार्थों के दूर और समीप होने की बुद्धि के कारण को दिशा बतलाया गया है। दिशा में कोई विशेष गुण नहीं पाया जाता है। अतः सर्वदर्शनसंग्रह में इसकी परिभाषा दी है—'अकालत्वे सत्यविशेषगुणा महती' दिशा वह है जो काल से भिन्न है व्यापक है और विशेष गुण से रहित है। यद्यपि यह दिशा व्यापक, नित्य एवं एक है परन्तु उपाधिभेद से इसके प्रमुख चार प्रकार किए जाते हैं—(१) प्राची (पूरब या उदयाचल-सन्निहित = निकट दिशा या जहाँ सूर्योदय होता है), (२) प्रतीची (पश्चिम या अस्ताचल-सन्निहित या उदयाचल से व्यवहित = दूर = विपरीत दिशा या जहाँ सूर्य डूबता है), (३) उदीची (उत्तर या सुमेरु पर्वत सन्निहित दिशा) और (४) अवाची (दक्षिण या सुमेरु पर्वत से व्यवहित = विपरीत दिशा)। न्यायबोधिनी-टीकाकार गोवर्द्धन के द्वारा प्रयुक्त सन्निहित पद के स्पष्टीकरणार्थ (आपेक्षिक पूर्व-पश्चिम-भाव के व्यवहार-सम्पादनार्थ) नीलकण्ठ ने 'मूर्तावच्छिन्नत्व' पद दिया है अर्थात् उदयाचल-सन्निहित-मूर्तावच्छिन्न-दिशा प्राची है, तादृश अचल-व्यवहितमूर्तावच्छिन्नदिशा प्रतीची है, सुमेरु-सन्निहितमूर्तावच्छिन्न दिशा उदीची है और सुमेरु-व्यवहितमूर्तावच्छिन्न दिशा अवाची है। इस तरह सूर्योदय का स्थान पूरब दिशा का और सुमेरु पर्वत का स्थान उत्तर दिशा का नियामक है। इसी आधार से यह कहा जाता है कि बनारस से पटना पूरब में और प्रयाग पश्चिम में है।

प्रश्न—दिशा और आकाश में क्या अन्तर है ?

उत्तर—(१) आकाश भूत है और दिशा अभूत। अतः आकाश का सम्बन्ध पृथिव्यादि भौतिक द्रव्यों से है और दिशा का सम्बन्ध अभौतिक मन से है। (२) आकाश का शब्द विशेष गुण है परन्तु दिशा का कोई विशेष गुण नहीं है। (३) दिशा काल की तरह सभी कार्यों का दैशिक सम्बन्ध से असाधारण निमित्तकारण है परन्तु आकाश नहीं (आकाश केवल शब्द का असाधारण कारण है)। इस भेद के साथ दोनों में कुछ साम्य भी है, जैसे—दोनों नित्य हैं, एक हैं, व्यापक हैं, अमूर्त हैं तथा अनुमेय हैं। भेद भी दोनों के औपाधिक हैं।

[आत्मनः किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

अनुवाद—[आत्मा का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार का है ?] ज्ञान के अधिकरण (आश्रय) को आत्मा कहते हैं अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से ज्ञान गुण रहता है वह आत्मद्रव्य है। आत्मा दो प्रकार का है—जीवात्मा और परमात्मा। उनमें परमात्मा एक ही है जिसे ईश्वर (सर्वशक्तिसम्पन्न, जगत् का कर्त्ता) तथा सर्वज्ञ (त्रिकालज्ञ = सब कुछ जानने वाला) भी कहा जाता है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है (अर्थात् जीव अनेक हैं) परन्तु व्यापक एवं नित्य है।

व्याख्या—जिसमें ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे आत्मा कहते हैं। काल और दिशा में ज्ञान क्रमशः कालिक एवं दैशिक सम्बन्ध से रहता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति वारणार्थ समवाय सम्बन्ध कहा गया। 'सुखाद्याश्रयः' (सुखादि गुणों का आश्रय) भी आत्मा को कहा जाता है, जो ज्ञानाधिकरण के ही समान है। वस्तुतः ईश्वर में सुखादि का अभाव होने से यह लक्षण केवल जीवात्मा में घटित होता है। इसी तरह 'इन्द्रियाद्यधिष्ठाता' भी जीवात्मा का ही स्वरूप है क्योंकि ईश्वर की इन्द्रियाँ नहीं हैं। वह आत्मा दो

प्रकार का है—परमात्मा (ईश्वर) और जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ। परमात्मा एक है और जीवात्मा शरीर भेद से अनेक। जीवात्मा को जीव और प्राणी भी कहा जाता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य और व्यापक हैं।

अमूर्त होने के कारण आत्मा अनुमेय है, जैसे—'करणव्यापारः सकर्तृकः, करणव्यापारत्वात्, छिदिक्रियायां वास्यादिव्यापारवत्' इन्द्रियों के व्यापार का कोई कर्त्ता होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक करण का कोई कर्त्ता होता है, जिस प्रकार छेदन-क्रिया में 'परशु'। यह वस्तुतः जीवात्मा का साधक अनुमान प्रयोग है। परमात्मा का साधक प्रयोग होगा—'क्षित्यङ्कुरादिकार्यं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, यद्यत्कार्यं तत्कर्तृजन्यं, यथा घटः' जैसे घट कार्य का कुम्भकार आदि कर्त्ता देखा जाता है उसी प्रकार संसाररूप कार्य (सृष्टि) का कर्त्ता परमात्मा है। आत्मा का साधक अन्य अनुमान प्रयोग होगा—'बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपादयः' बुद्धि आदि आठ गुणों का कोई अधिकरण होना चाहिए और वह अधिकरण पृथिवी आदि जड़ पदार्थ नहीं हो सकते हैं, अतः उनके अधिकरणरूप आत्मा की सिद्धि होती है। इन्द्रियादि आत्मा नहीं हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा इन चार अभूत पदार्थों में आत्मत्व ही जाति है, आकाशत्वादि नहीं (क्योंकि आकाशादि एक-एक द्रव्य हैं)। इस आत्मत्व जाति को नैयायिक ज्ञान गुण के आधार पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों में मानते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि कणाद के लिए आत्मत्व जाति से केवल जीवात्मा अभिप्रेत था। परवर्ती टीकाकारों ने उसमें परमात्मा को भी जोड़ दिया। कणाद और गौतम ने कहीं भी परमात्मा का नामोल्लेख नहीं किया है। आत्मत्व-सिद्धि में जो भी तर्क दिए हैं वे सब जीवात्मा के साधक हैं। ईश्वर को नैयायिक मानते तो हैं परन्तु उसके स्वरूप के विषय में एक मत नहीं हैं। कुछ ईश्वर को सशरीरी मानते हैं और कुछ अशरीरी।

आत्मा में १४ गुण माने जाते हैं। आत्मा की व्यापकता के संदर्भ में नैयायिकों का कहना है कि यदि आत्मा अणुरूप होगा तो सम्पूर्ण शरीर में सुखादि का अनुभव नहीं होगा, यदि जैनों की तरह शरीर-परिमाण मानेंगे तो अनित्यता होगी, अतः व्यापक मानना ही उचित है। इस पर यदि कोई कहे कि तब तो सबके सुख-दुःखों का अनुभव प्रत्येक को होना चाहिए तो नैयायिकों का कहना है कि आत्मा स्वयं अनुभव नहीं करता अपितु मन की सहायता से अनुभव करता है और प्रतिशरीर में मन पृथक्-पृथक् है। परमात्मा एक है। जीव शरीरभेद से अनेक हैं। जीव पुनः दो प्रकार के हैं—बद्ध (संसारी) और मुक्त। मुक्त जीव अशरीरी हैं और सुख-दुःख से रहित हैं। बद्ध जीव सशरीरी हैं और सुख-दुःख को भोगते हैं।

[मनसः किं लक्षणं, कतिविधं च तत् ?] सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।

[इति द्रव्यलक्षणप्रकरणम्]

अनुवाद—[मन का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार है ?] सुख आदि (दुःख आदि) के ज्ञान (उपलब्धि) की साधनभूत इन्द्रिय को मन (अन्तःकरण) कहते हैं। वह मन प्रत्येक जीवात्मा के साथ नियत (भिन्न-भिन्न) होने के कारण अनन्त संख्या वाला है, साथ ही वह परमाणुरूप (परमाणु-परिमाण वाला) है तथा नित्य है।

[द्रव्यलक्षणप्रकरण समाप्त]

व्याख्या—'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्षात्मक अनुभूतियों के प्रति हेतुभूत इन्द्रिय है 'मन'। लक्षण में सुखादि का अर्थ है—आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले समस्त गुण। उपलब्धि का अर्थ है—मन बाह्य इन्द्रियों की तरह केवल बाह्य विषयों का साधन नहीं है अपितु साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का भी साधन है। 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग संभवतः मन को इन्द्रिय न मानने वालों के खण्डनार्थ किया गया हो। 'मन' एक अन्तरिन्द्रिय है। प्रत्येक आत्मा के साथ

पृथक्-पृथक् मन सम्बद्ध है। मन को परिमाण की दृष्टि से अणु-परिमाण वाला माना गया है। अणुपरिमाण वाला होने से नित्य भी है। मन से होने वाले प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को मानसिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। मन को मीमांसक व्यापक मानते हैं क्योंकि वह काल की तरह विशेषगुण से शून्य है। नैयायिकों का कहना है कि यदि मन को व्यापक माना जायेगा तो सर्वव्यापक आत्मा के साथ संयोग नहीं होगा और संयोग के अभाव में ज्ञान नहीं होगा। नैयायिकों के अनुसार दो व्यापक पदार्थों का संयोग नहीं होता है, फिर भी यदि कथञ्चित् संयोग मान भी लिया जाए तो नित्य-संयोग होने से निद्रा में भी ज्ञान होता रहेगा। न्यायशास्त्र के अनुसार मन के अणुरूप होने से निद्रा के समय वह हृदय की निकटस्थ पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है और तब उसका आत्मा के साथ संयोग न होने से ज्ञानादि नहीं होते। किञ्च, दो ज्ञान युगपत् नहीं होते अपितु क्रमशः होते हैं। आणविक पदार्थ से एक साथ दो पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः मन अणुरूप है। नैयायिकों के इस सिद्धान्त के विरोध में भी कई तर्क दिए जाते हैं। आधुनिकशरीर विज्ञान से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। मन के अणुरूप होने से वह अनुमेय है, जैसे—'सुखादि-साक्षात्कारः करणसाध्यः, जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कार-वत्।' अथवा आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।' (आत्मेन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर कभी तो ज्ञान होता है और कभी नहीं, अतः मन की सत्ता सिद्ध होती है)। 'स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्' भी मन की परिभाषा दी गई है, परन्तु इससे मन का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है, शास्त्रीय दृष्टि से यह परिभाषा अवश्य निर्दुष्ट कही जा सकती है।

[द्रव्यलक्षणप्रकरण समाप्त]

३. गुणलक्षणप्रकरणम्

[१. रूपस्य किं लक्षणं, कतिविधं च तत् ?] चक्षुर्मात्र-ग्राह्यो गुणो रूपम् । तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्र-

भेदात्सप्तविधम् । पृथिवीजलतेजोवृत्ति । तत्र पृथिव्यां सप्त-विधम् । अभास्वरशुक्लं जले । भास्वरशुक्लं तेजसि ।

अनुवाद—[१. रूप का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार का है ?] केवल चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण किए जाने वाले गुण को 'रूप' कहते हैं। शुक्ल (सफेद), नील (काला), पीत (पीला), रक्त (लाल), हरित (हरा), कपिश (काला और पीला) और चित्र (चितकबरा) के भेद से वह रूप सात प्रकार का है। वह रूप गुण पृथिवी, जल और तेज द्रव्यों में पाया जाता है। उनमें पृथिवी में सातों प्रकार का रूप पाया जाता है। जल में अभास्वर (न चमकने वाला) शुक्ल रूप तथा तेज में भास्वर (चमकीला एवं प्रकाशक) शुक्ल रूप पाया जाता है।

व्याख्या—जिस गुण का प्रत्यक्ष केवल चक्षु इन्द्रिय से होता है उसे रूप कहते हैं। यहाँ लक्षण में प्रशस्तपादभाष्य के लक्षण 'तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्' में दो पद जोड़े गये हैं—'मात्र' और 'गुण'। 'मात्र' शब्द न देने पर संख्या, परिमाण, संयोग आदि गुणों में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि इनका प्रत्यक्ष चक्षु के अलावा त्वचा से भी होता है। 'गुण' शब्द न देने पर 'रूपत्व' जाति में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि उसका प्रत्यक्ष मात्र चक्षु से होता है। इस तरह मात्र और गुण पद देने से लक्षण दोषरहित है। यहाँ यदि कोई कहे कि परमाणु-गत रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से नहीं होता है, अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष है। इसके उत्तर में न्यायबोधिनीकार ने प्रकारान्तर से रूप का लक्षण किया है—'त्वगग्राह्य-चक्षुर्ग्राह्यगुणविभाजकजातिमत्त्वम्' अर्थात् त्वग् इन्द्रिय से अग्राह्य होते हुए चक्षुर्ग्राह्यगुणत्वव्याप्यजाति (रूपत्व) वाला जो हो, वही रूप है। रूपत्व जाति ऐसी है जो केवल रूप में रहती है और वह रूपत्वजाति परमाणुओं में भी रहती है। इस तरह कोई दोष नहीं है।

रूप के प्रत्यक्ष के लिए चार बातें होना जरूरी हैं—(१) महत्परिमाण (परमाणुओं में इसका अभाव होने से उनके रूप का

प्रत्यक्ष नहीं होता है), (२) उद्भूतत्व (चक्षु की शुक्लता में उद्भूतरूपता का अभाव होने से प्रत्यक्ष नहीं होता है), (३) अनभिभूतत्व (अग्नि की शुक्लता पार्थिव तत्त्वों से अभिभूत होने से प्रत्यक्ष नहीं है) और (४) रूपत्व (रसादि में रूपत्व जाति नहीं है, अतः चक्षु से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है) ।

न्यायदर्शन में रूप के सात भेदों में अन्तिम चित्र रूप की सविशेष सिद्धि की जाती है। यह छः रूपों का मिश्रण मात्र नहीं है, अपितु स्वतन्त्र रूप है। उनका कहना है कि रूप व्याप्यवृत्ति (पूरे भाग में रहने वाला) धर्म है। अतः एक ही पदार्थ में अनेक रूप एक-साथ नहीं रह सकते हैं। अतः चित्र रूप वाले पट के एक-एक अंश के रूप-ज्ञान से समस्त पट के रूप का ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अतः तद्गत चित्र रूप के ज्ञान के लिए चित्र रूप को पृथक् मानना आवश्यक है। नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार अपने अंशों से पृथक् समुदाय की कोई सत्ता नहीं होती है।

ये सभी रूप पृथिवी में पाये जाते हैं। जल में केवल अप्रकाशक (अभास्वर) शुक्ल रूप है और तेज में केवल प्रकाशक (भास्वर) शुक्ल रूप है। अन्यत्र रूप नहीं पाया जाता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार केवल तेज (प्रकाश) में ही स्वतन्त्र रूप माना जाता है, पृथिव्यादि में कोई स्वतन्त्र रूप नहीं।

[२. रसस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] **रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ल-लवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।**

अनुवाद—[२. रस का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है ?]—रसना इन्द्रिय (जिह्वा) से ग्रहण किए जाने वाले गुण को 'रस' कहते हैं। वह रस गुण मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़ुआ), कषाय (कषैला), और तिक्त (चरपरा) के भेद से छः प्रकार का है। वह रस पृथ्वी और जल में पाया जाता है। उनमें (पृथ्वी के मध्य और जल में) पृथिवी में छहों प्रकार का और जल में केवल मधुर ही रस पाया जाता है। [जल में अम्ल आदि रसों की प्रतीति उपाधिभेद = पृथ्वी के परमाणुओं के सम्मिश्रण से देखी जाती है।]

व्याख्या - जिह्वा से जिस गुण को जाना जाता है, वह रस कहलाता है। यहाँ गुण पद रसत्व जाति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ है। जिह्वा से संख्या आदि का बोध न होने से मात्र पद की आवश्यकता नहीं है। परमाणुगत रस में अव्याप्ति वारणार्थ पूर्ववत् जाति घटित लक्षण होगा—'रसनाग्राह्यगुणत्वव्याप्यधर्मवत्त्वम्' चित्र रूप की तरह चित्ररस नहीं माना जाता क्योंकि जिह्वा क्रमशः ही रसों को जानती है, युगपत् नहीं। किञ्च, जिह्वा रस मात्र की ग्राहक होने से रसवान् द्रव्य की अप्रत्यक्षता का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। अतः जिह्वा अवयव के रस का ही ग्रहण कराके चरितार्थ हो जाती है। रस पृथिवी और जल में पाया है। पृथिवी में छहों रस हैं और जल में केवल मधुर रस। नीबू के रस में जो अम्ल रस है वह पर्थिव अंश का ही है।

[३. गन्धस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] **घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।**

अनुवाद—[३. गन्ध का क्या लक्षण है और उसके कितने भेद हैं ?] घ्राणेन्द्रिय (नासिका) से ग्रहण किए जाने वाले गुण को 'गन्ध' कहते हैं। वह गन्ध गुण दो प्रकार का है—(१) सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। गन्ध गुण केवल पृथिवी में ही पाया जाता है।

व्याख्या—नासिका से गृहीत गुण का नाम है 'गन्ध'। इसकी व्याख्या रस के समान समझना चाहिए क्योंकि रसना और घ्राण

केवल अपने-अपने गुण एवं तद्गत जाति को ही ग्रहण करती हैं। गन्ध केवल पृथिवी में है। गुलाबजल आदि की गन्ध पृथिवी की गन्ध है, जल की नहीं।

[४. स्पर्शस्य किं लक्षणं, के च भेदाः ?] त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः—शीतोष्णानुष्णाशीत भेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः।

अनुवाद—[४. स्पर्श का क्या लक्षण है और उसके कितने भेद हैं ?]—त्वगिन्द्रिय (त्वचा) मात्र से ग्रहण किए जाने वाले गुण को 'स्पर्श' कहते हैं। शीत (ठंडा), उष्ण (गर्म) और अनुष्णाशीत (न अधिक ठंडा न अधिक गर्म) के भेद से वह स्पर्श गुण तीन प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज और वायु में स्पर्श गुण पाया जाता है। उनमें जल में शीत स्पर्श, तेज में उष्णस्पर्श, पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श पाया जाता है।

व्याख्या—जिस गुण का प्रत्यक्ष मात्र त्वचा इन्द्रिय से होता है उसे स्पर्श गुण कहते हैं। यहाँ 'मात्र' पद का ग्रहण संख्यादि के वारणार्थ है तथा 'गुण' पद का ग्रहण स्पर्शत्व जाति के वारणार्थ किया गया है। जाति-घटित लक्षण करने पर परमाणु में अव्याप्ति नहीं होगी—'चक्षुरग्राह्यत्वग्ग्राह्यगुणत्वव्याप्यधर्मवत्त्वम्'। जो लोग वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष मानते हैं उनका भी जातिघटित लक्षण से निराकरण हो जायेगा। चक्षुरग्राह्य कहने से संयोगत्व आदि जातियों का निराकरण हो जायेगा। स्पर्श तीन प्रकार है—शीतल, उष्ण और अनुष्णाशीत। उष्णस्पर्श तेज में, शीतलस्पर्श जल में और अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु में है। अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी का पाकज है और वायु का अपाकज। चित्र स्पर्श नहीं होता है।

[रूपादिचतुष्टयं कुत्र पाकजमपाकजं वा कुत्र ?] रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यं च। अन्यत्राऽपाकजं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्।

अनुवाद—[रूपादि चार गुण कहाँ पाकज हैं और कहाँ अपाकज हैं ?]—रूपादिचतुष्टय (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) पृथिवी में पाकज (तेज के संयोग से उत्पन्न होने वाले) हैं तथा अनित्य हैं। अन्यत्र (पृथिवी से भिन्न जल, तेज और वायु में) अपाकज हैं (अर्थात् जल में रूप, रस और स्पर्श, तेज में रूप और स्पर्श तथा वायु में स्पर्श गुण अपाकज है) तथा नित्य और अनित्य हैं। नित्यगत (जल आदि के परमाणुओं में रहने वाले) रूपादि नित्य हैं तथा अनित्यगत (द्वयणुकादि में रहने वाले) रूपादि अनित्य हैं।

व्याख्या—'पाकः तेजस्संयोगः' पाक का अर्थ है 'तेज का संयोग'। अर्थात् रूपादि ४ गुणों का परिवर्तन जब तेज के संयोग से होता है तो उसे पाकज कहते हैं और जब बिना तेज के संयोग के स्वाभाविक-रूप से रूपादि का परिवर्तन होता है तो उसे अपाकज कहते हैं। पृथिवी में रूपादि का परिवर्तन तेज के संयोग से होता है, अतः पृथिवीगत रूपादिचतुष्टय को पाकज कहा है। पाकज होने से अनित्य कहा गया है। अन्नम्भट्ट ने पृथिवी की परमाणुगत गन्ध को नित्य माना है अथवा अनित्य, स्पष्ट नहीं किया है। संभवतः वे अनित्य ही मानना चाहते हैं। जलादिगत रूपादि के परिवर्तन को अपाकज माना है क्योंकि जलादि को अनेक बार क्यों न तपाया जाए उनके रूपादि में परिवर्तन नहीं होता है। तपाये गये जलादि में जो उष्णता देखी जाती है वह औपाधिक है क्योंकि उसमें तेज के परमाणुओं का सम्मिश्रण हो गया है। जलादि के परमाणुगत रूपादि नित्य हैं और द्वयणुकादि के रूपादि अनित्य हैं। पृथिवी के रूपादि की परावृत्ति रूप पाक के सन्दर्भ में दो मत प्रचलित हैं—

(१) **वैशेषिकों का पीलुपाक** (परमाणुपाक)—वैशेषिकों के अनुसार अवयवी से ढके हुए अवयवों में रूपान्तर की प्राप्ति बिना अवयवी के नष्ट हुए नहीं हो सकती है। अतः जब श्याम घट (कच्चा घड़ा) को अग्नि-संयोग से पकाया जाता है तो अवयवी-रूप घट का नाश हो जाता है और वह घट परमाणुओं में विभक्त हो जाता है पश्चात् अग्नि के संयोग से उन परमाणुओं के रूपादि में परिवर्तनरूप पाक होता है पश्चात् वे सभी परमाणु द्व्यणुकादि-क्रम से पुनः घट का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में विभिन्न मतों के अनुसार ५, ९, १०, ११ पल का समय लगता है। इस मत में पृथिवी के परमाणुओं की गन्ध भी अनित्य है।

(२) **नैयायिकों का पिठरपाक** (अवयवी-पाक)—नैयायिकों के अनुसार द्व्यणुकादि अवयवी में भी पाक होता है। उनका कथन है कि अवयवी घट आदि में सूक्ष्म छिद्र होते हैं जिनमें अग्नि के सूक्ष्म अवयव प्रविष्ट हो जाते हैं और तब अवयवी से लेकर परमाणुपर्यन्त अवयवों में एक साथ रूपान्तरप्राप्ति हो जाती है। इस प्रक्रिया में अवयवी घटादि के नाश की जरूरत नहीं पड़ती है। इस मत में कल्पना-गौरव का अभाव है तथा व्यवहारिकता भी है।

इस संदर्भ में कारिकावली में कहा है—

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्।
तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये॥ १०५॥
नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते।

[५. संख्यायाः किं लक्षणं, कुत्र च सा वर्तते ?] एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादि-परार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्राऽनित्यमेव।

अनुवाद—[५. संख्या का लक्षण क्या है और वह कहाँ रहती है ?] एकत्व आदि (एक, दो, तीन आदि) व्यवहार के हेतुभूत

गुण को संख्या कहते हैं। वह संख्या पृथिवी आदि सभी नवों द्रव्यों में रहती है तथा वह एकत्व (एक) से लेकर परार्ध तक है। एकत्व संख्या नित्य भी है और अनित्य भी है। नित्यगत (पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नित्यपदार्थों में रहने वाली) एकत्व संख्या नित्य है तथा अनित्यगत (कार्यरूप अनित्य पदार्थों में रहने वाली) एकत्व संख्या अनित्य है। द्वित्व आदि (दो, तीन आदि) संख्या सर्वत्र (चाहे नित्य द्रव्यगत हो अथवा अनित्य द्रव्यगत) अनित्य ही है।

व्याख्या—'यह एक है', 'ये दो हैं' इत्यादि ज्ञान के प्रति असाधारण निमित्तकारण होने वाला गुण है—'संख्या'। यहाँ आकाशादि में अतिव्याप्ति वारणार्थ हेतु शब्द का अर्थ असाधारणनिमित्तकारण समझना चाहिए। संख्या की गणना १० सामान्य गुणों में की जाती है। संख्या एक से लेकर परार्ध (एक लाख × एक लाख × एक करोड़) तक होती है। शंकर मिश्र ने 'बहुत्व' को भी संख्या माना है। एकत्व अणुओं में तथा आकाशादि नित्य द्रव्यों में नित्यरूप से रहता है तथा घटादि कार्यों में अनित्य एकत्व रहता है। द्वित्वादि संख्यायें द्व्यणुकादि कार्यों में रहती हैं तथा वे अनित्य ही होती हैं। लकड़ी का एक टुकड़ा जब तक टूटा नहीं है तब तक उसमें एकत्व है परन्तु टूटने पर उसमें द्वित्वादि संख्यायें हो जाती हैं। अतः उसका एकत्व तथा द्वित्वादि अनित्य है, बुद्धिसापेक्ष है। अन्नम्भट्ट एवं वैशेषिकों के मतानुसार द्वित्व केवल अपेक्षाबुद्धि के द्वारा ज्ञाप्य ही नहीं है अपितु जन्य भी है। अपेक्षाबुद्धि का अर्थ है—'अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते' जब दो द्रव्य सामने होते हैं तब दोनों में पृथक्-पृथक् रूप से एकत्व रहता है परन्तु जब उन दो इकाइयों का ज्ञान हमें एक इकाई के रूप में होता है तो उसे द्वित्व कहते हैं। द्वित्वज्ञान के बाद अपेक्षाबुद्धि समाप्त हो जाती है। परवर्ती नैयायिक संख्या को पदार्थान्तर मानते हैं, गुण नहीं क्योंकि गुण में गुण कैसे रहेगा ? इस संदर्भ का विचार पहले किया जा चुका है।

[६. परिमाणस्य किं लक्षणं, के च तस्य भेदाः ?] मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम् । नवद्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधम्—अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति ।

अनुवाद [६. परिमाण का क्या लक्षण है और उसके भेद कौन हैं ?]—माप (मान = एक गज, दो गज, एक किलो, दो किलो आदि नापने और तौलने) के व्यवहार के असाधारण निमित्तकारण (प्रधान कारण) को परिमाण गुण कहते हैं । वह सभी नवों द्रव्यों में रहता है । अणु (सूक्ष्म), महत् (बड़ा), दीर्घ (लम्बा) और ह्रस्व (नाटा) के भेद से वह चार प्रकार का है ।

व्याख्या—यह वस्तु इतनी है, यहाँ से यहाँ तक है, छोटी है, बड़ी है इत्यादि व्यवहार के प्रति जो असाधारण कारण है वह परिमाण है । सूत्र में अणु आदि भेदवाचक धर्मी शब्द धर्म अर्थ (भाव प्रधान अर्थ) में प्रयुक्त हैं । अतः अणु आदि से क्रमशः तात्पर्य है—अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व । ये चारों प्रकार परम और मध्यम के भेद से दो-दो प्रकार के हैं । परमाणु सबसे अधिक सूक्ष्म है और उसकी सूक्ष्मता को पारिमाण्डल्य कहते हैं । अतः यह परम अणु का उदाहरण है । द्व्यणुक मध्यमाणु है । आकाश परम महत्त्व (विभुत्व) है । समस्त दृश्य पदार्थ मध्यम महत्त्व हैं । कुछ लोग ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को क्रमशः अणुत्व तथा महत्त्व के ही अन्तर्गत मानते हैं परन्तु दोनों पृथक् हैं क्योंकि अणुत्व और महत्त्व से उसके घनफल का बोध होता है जिसे हम किलो आदि में नापते हैं । दीर्घत्व और ह्रस्वत्व को हम मीटर आदि से नापते हैं । वस्तुतः ये सभी शब्दसापेक्ष हैं । परिमाण भी नित्य और अनित्य है । पारिमाण्डल्य और विभुत्व परिमाण नित्य हैं शेष दो अनित्य ।

[७. पृथक्त्वस्य किं लक्षणम् ?] पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम् । सर्वद्रव्यवृत्ति ।

अनुवाद [७. पृथक्त्व का क्या लक्षण है ?]—पृथक् (यह घट उस पट से भिन्न है इत्यादि) व्यवहार के असाधारण (प्रधान) निमित्तकारण को पृथक्त्व कहते हैं । पृथक्त्व सभी नवों द्रव्यों में रहता है ।

व्याख्या—'ये दोनों पृथक् = अलग हैं' इत्यादि व्यवहार (किसी पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् रूप से जानना) जिस गुण के आश्रय से होता है वही पृथक्त्व गुण है । अन्योन्याभाव से पृथक्त्व गुण भिन्न है । 'घटः पटो न' यह अन्योन्याभाव है और 'पटाद् घटः पृथक्' यह पृथक्त्व है । इस तरह पृथक्त्व से (घट से पट की पृथक्) विशेष सत्ता का बोध होता है, अभाव का नहीं । पृथक्त्व दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पृथकता को बतलाता है जबकि अन्योन्याभाव उनके एक ही स्वभाव न होने को प्रकट करता है । यह पृथक्त्व गुण सभी द्रव्यों में रहता है । संख्या-भेद के समान यह एकपृथक्त्व से लेकर परार्ध-पृथक्त्व पर्यन्त होता है ।

[८. संयोगस्य किं लक्षणम् ?] संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । सर्वद्रव्यवृत्तिः ।

अनुवाद—[८. संयोग का क्या लक्षण है ?] संयुक्त (यह पदार्थ इससे मिला हुआ है अथवा ये दोनों पदार्थ सम्मिलित हैं इत्यादि) व्यवहार के [असाधारण निमित्त] कारण को संयोग गुण कहते हैं । यह सभी द्रव्यों में रहता है ।

व्याख्या—उन दो पदार्थों के मिलने को संयोग कहते हैं जो कभी अलग-अलग थे ('अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।' कारिकावली ११५) । इससे यह सिद्ध है कि दो व्यापक द्रव्यों के एक साथ रहने पर भी उनमें संयोग नहीं माना गया है । संयोग हमेशा अनित्य और कृत्रिम होता है । यह संयोग दो प्रकार का है—कर्मज-संयोग और संयोगज-संयोग । जैसे—हाथ की क्रिया (कर्म) करने पर जो हाथ और पुस्तक का संयोग है वह कर्मज-

संयोग है तथा हाथ का पुस्तक से संयोग होने पर बिना कुछ किए शरीर से पुस्तक का संयोग होना संयोगज-संयोग (एक से संयुक्त होने पर दूसरे से भी बिना क्रिया के संयुक्त हो जाना) है। न्याय-दर्शन अवयव और अवयवी में भेद मानता है। अवयव होता है कारण और अवयवी होता है कार्य। अतः संयोगज-संयोग को कर्मज-संयोग नहीं कहा जा सकता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि संयोग अव्याप्यवृत्ति (अपने समस्त आश्रय को व्याप्त करके न रहने वाला) होता है अर्थात् एक ही अधिकरण में प्रदेश-भेद से संयोग और उसका अभाव दोनों ही रहते हैं। जैसे वृक्ष की एक शाखा पर कपि (बन्दर) बैठा है तो कपि का वृक्ष की उस शाखा से तो संयोग है परन्तु वृक्ष के मूल भाग से संयोग नहीं है, अपितु संयोगाभाव है। इस तरह शाखावच्छेदेन कपिसंयोग का होना और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव का होना ही संयोग की अव्याप्यवृत्तिता है।

तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग की परिभाषा में 'असाधारण' पद दिया है, कुछ में नहीं। मैंने सुखबोधार्थ देना उचित समझा है।

[९. विभागस्य किं लक्षणम् ?] संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अनुवाद—[९. विभाग का क्या लक्षण है ?] संयोग के नाशक (परस्पर मिले हुए पदार्थों के अलग-अलग होने पर संयोग का नाश होता है, उस संयोग को नष्ट करने वाले) गुण को विभाग कहते हैं। वह विभाग सभी द्रव्यों में रहता है।

व्याख्या—जिस गुण से संयोग का नाश होता है वह विभाग गुण सभी द्रव्यों में रहता है। यह विभाग गुण संयोग का अभाव ही नहीं है, अपितु एक वास्तविक सत्ता है जो संयोग को समाप्त

करती है। इस तरह विभाग संयोगनाश का कारण है, स्वयं संयोग-नाश नहीं। विभाग विभाजन-क्रिया भी नहीं है अपितु विभाजन-क्रिया के तुरन्त बाद फलित होने वाला गुण है। जब हम पुस्तक को टेबुल से हटाकर कुर्सी पर रखते हैं तो प्रथमतः विभाजन-क्रिया होती है, तदनन्तर विभाग, पश्चात् पूर्वदेश (टेबुल) संयोगनाश, अनन्तर अपरदेश (कुर्सी) संयोग। विभाग उनमें नहीं माना जायेगा जिनका कभी संयोग नहीं हुआ है। नैयायिक विभागज-विभाग को नहीं मानते जबकि वैशेषिक संयोग की तरह विभागज विभाग भी मानते हैं। संयोग का व्याप्तिघटित लक्षण होगा—'संयोगनाशकत्वे सति गुणत्वम्'। इस तरह आकाश, कालादि में तथा ईश्वरेच्छा में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

[१०–११. परत्वाऽपरत्वयोः किं लक्षणं, के च भेदाः ?] पराऽपरव्यवहाराऽसाधारणकारणे परत्वाऽपरत्वे। पृथिव्यादि-चतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते च द्विविधे—दिक्कृते कालकृते चेति। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

अनुवाद—[१०–११. परत्व-अपरत्व के क्या लक्षण हैं और उनके भेद कौन हैं ?] पर (यह इससे दूर है अथवा ज्येष्ठ है) और अपर (यह इसके निकट है अथवा इससे कनिष्ठ है) व्यवहार के असाधारण कारणों को क्रमशः परत्व और अपरत्व गुण कहा जाता है। ये दोनों (परत्वापरत्व) पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में रहते हैं। ये दोनों दिशाकृत और कालकृत के भेद से दो प्रकार के हैं (दिक्कृत-परत्व, दिक्कृत-अपरत्व, कालकृत-परत्व और कालकृत-अपरत्व)। दूरस्थ पदार्थों में दिक्कृत परत्व है, समीपस्थ पदार्थों में दिक्कृत-अपरत्व है, ज्येष्ठ में कालकृत-परत्व है और कनिष्ठ (छोटे) में कालकृत-अपरत्व है।

व्याख्या—परत्वापरत्व को दूरी और निकटता शब्दों से कहा जा सकता है। ये दोनों मूर्त द्रव्यों के दिक्कृत और कालकृत सम्बन्ध हैं जिन्हें उनके गुण के रूप में कहा गया है। कालिक परत्वापरत्व मन में नहीं रहता है क्योंकि मन को नित्य माना है, अतः कालकृत ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता संभव नहीं है। शेष चार पृथिव्यादि अनित्य मूर्त द्रव्यों में दैशिक एवं कालिक परत्वापरत्व है। ये परत्वापरत्व संयोगादि की तरह अपेक्षाबुद्धिजन्य (सापेक्ष) हैं। अतः एक ही द्रव्य में अपेक्षाबुद्धि से परत्वापरत्व दोनों रह सकते हैं।

[१२. गुरुत्वस्य किं लक्षणम् ?] आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम् । पृथिवीजलवृत्ति ।

अनुवाद—[१२. गुरुत्व का क्या लक्षण है ?] प्रथम पतन (गिरने) का असमवायिकारणभूत जो गुण है वह है गुरुत्व (भारीपन)। वह पृथिवी और जल में रहता है।

व्याख्या—लक्षण में यदि 'आद्य' पद न देते तो वेग में अतिव्याप्ति होती क्योंकि द्वितीय आदि पतन में 'वेग' असमवायिकारण होता है। आद्यपतन के कारण दण्डादि में अतिव्याप्तिवारण के लिए असमवायिपद दिया है क्योंकि दण्ड द्रव्य होने से समवायिकरण है। रूप आदि असमवायिकारण में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'पतन' पद दिया है। पूर्ववत् गुरुत्व का पूर्ण लक्षण होगा —'आद्यपतनाऽसमवायिकारणत्वे सति गुणत्व गुरुत्वम्।' गुरुत्व अतीन्द्रिय है। तराजू के नमन तथा उन्नमन से गुरुत्व का अनुमान होता है।

[१३. द्रवत्वस्य किं लक्षणं, के च भेदाः ?] आद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणं द्रवत्वम् । पृथिव्यप्तेजोवृत्ति । तद् द्विविधं—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वं, तेजसि सुवर्णादौ ।

अनुवाद—[१३. द्रवत्व का क्या लक्षण है और उसके कितने भेद हैं ?] आद्यस्यन्दन (बहना या टबकना) का असमवायिकारण द्रवत्व है। वह पृथिवी, जल और तेज में रहता है। वह द्रवत्व दो प्रकार का है—सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (अग्नि आदि तेज के संयोग से होने वाला)। सांसिद्धिक द्रवत्व जल में है। नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेज में है। पार्थिव घी आदि (मोम आदि) में तथा तैजस सुवर्णादि (रजत आदि) में अग्नि के संयोग से नैमित्तिकद्रवत्व है।

व्याख्या—गुरुत्व के समान इसका भी पूर्ण लक्षण होगा 'आद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणत्वे सति गुणत्वम् द्रवत्वम्'। 'आद्य' पद वेग में अतिव्याप्तिवारण के लिए है। द्वितीय तथा परवर्ती स्यन्दन-क्रियाओं के प्रति वेग को असमवायिकारण माना जाता है, गुरुत्व को नहीं। पतन ठोस पदार्थों का होता है और स्यन्दन तरल पदार्थों का।

[१४. स्नेहस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः । जलमात्रवृत्तिः ।

अनुवाद—[१४. स्नेह का क्या लक्षण है, और वह कितने प्रकार का है ?] चूर्ण आदि के पिण्डीभाव (घनिष्ठता = संयोगविशेष) में निमित्तकारणभूत गुण को स्नेह (चिकनाहट) कहते हैं। वह केवल जल में रहता है।

व्याख्या—जिस गुण से आटा आदि गोली का रूप धारण करते हैं उसे स्नेह कहते हैं। तेल, दूध तथा अन्य पार्थिव पदार्थों में जो स्निग्धता है वह जलीय तत्त्व के कारण है। बिना स्नेह के माने केवल द्रवत्व से पिण्डीभाव का कार्य नहीं होगा क्योंकि पिघले हुए स्वर्ण में द्रवत्व होने पर भी वह चूर्णादि के पिण्डीभाव को नहीं करता है। अतः स्नेह का मानना जरूरी है।

[१५. शब्दस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधो ध्वन्यात्मको

वर्णात्मकश्च । तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मकः संस्कृत-भाषादिरूपः ।

अनुवाद—[१५. शब्द का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है ?] श्रोत्र (कान) इन्द्रिय से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है उसे शब्द कहते हैं। शब्द केवल आकाश में रहता है। वह शब्द दो प्रकार का है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। भेरी आदि में (नगाड़ा आदि बजाने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह) ध्वन्यात्मक शब्द है। [कण्ठादि से उत्पन्न] संस्कृत भाषादिरूप जो शब्द (क, ख आदि) हैं वे वर्णात्मक हैं।

व्याख्या—'श्रोत्रग्राह्यत्वे सति गुणत्वं शब्दत्वम्' यह शब्द गुण का लक्षण है। शब्द के अन्य तीन भेद भी किए जाते हैं—(१) संयोगज (नगाडा और दण्ड के संयोग से उत्पन्न शब्द), (२) विभागज (लकड़ी वगैरह के तोड़ने से उत्पन्न शब्द) और (३) शब्दज (प्रथमोत्पन्न शब्द से क्रमशः उत्पन्न होने वाले द्वितीय-तृतीयादि शब्द)। शब्दज शब्द का मानना आवश्यक है क्योंकि हम दूरवर्ती शब्दों को सुन लेते हैं। शब्दज शब्द कैसे हमारी श्रोत्रेन्द्रिय तक आते हैं इस सम्बन्ध में दो मत हैं—(१) वीचीतरंगन्याय का सिद्धान्त—जल की तरंगों की तरह शब्द सीधी रेखा में द्वितीयादि शब्दों को क्रमशः उत्पन्न करता हुआ कान तक पहुँचता है। (२) कदम्ब-गोलकन्याय का सिद्धान्त—जैसे कदम्ब के फूल की पंखुड़ियां चारों ओर फैलती हैं उसी प्रकार शब्द भी चारों ओर द्वितीयादि शब्दों को उत्पन्न करता हुआ आगे बढ़ता है। न्यायदर्शन के अनुसार कान कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही है। नैयायिकों के अनुसार शब्द उत्पन्न होने के कारण अनित्य है।

[१६. बुद्धेः किं लक्षणं, कतिविधा च सा ?] सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च । संस्कार-मात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः ।

अनुवाद—[१६. बुद्धि का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार की है ?] सब प्रकार के व्यवहार में जो गुण कारण है वही बुद्धि है और बुद्धि ही ज्ञान है। वह बुद्धि दो प्रकार की है—स्मृति और अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति है तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव है।

व्याख्या—यहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में किया गया है। ज्ञान का साधन अणुपरिमाण मन को माना गया है। ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है। सांख्य और वेदान्त दर्शन में बुद्धि को महत् तत्त्व के अन्तर्गत माना है तथा अहंकार, अन्तःकरण आदि रूपों में उसे विभक्त किया गया है। न्यायदर्शन में बुद्धि की 'आत्माश्रय-प्रकाश' आदि कई परिभाषायें मिलती हैं। दीपिका की परिभाषा है—'जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्' अर्थात् 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसायगम्य ज्ञान ही बुद्धि है। न्यायदर्शन के अनुसार सबसे पहले इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होता है, फिर निर्विकल्पक ज्ञान अनन्तर विशिष्ट बुद्धि, पश्चात् मानस प्रत्यक्ष। यह मानस प्रत्यक्ष ही अनुव्यवसाय कहलाता है। जैसे—'घटमहं जानामि' (मैं घड़े को जानता हूँ) या 'घटज्ञानवानहमस्मि' (मैं घट ज्ञान वाला हूँ) यह घटज्ञान विषयक मानस प्रत्यक्ष अनुव्यवसाय है। 'अयं घटः' (यह घड़ा है) यह घटत्व-विशेषण-युक्त घटज्ञान व्यवसायात्मक ज्ञान है। 'घट घटत्वे' (घट और घटत्व) यह निर्विकल्पक ज्ञान है। अनुव्यवसाय ज्ञान के विषय पूर्ववर्ती व्यवसायात्मक ज्ञान तथा तद्गत ज्ञानत्व ये दोनों होते हैं। सांख्य तथा वेदान्त दर्शन में 'अयं घटः' को अनुव्यवसाय का गम्य ज्ञान (विषय) नहीं माना गया है अपितु अनुव्यवसाय को ही ज्ञान मानते हैं।

ज्ञान प्रथमतः दो प्रकार का है—स्मृत्यात्मक और अनुभवात्मक। भावना नामक संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृति है। स्मृति के इस लक्षण में 'मात्र' पद प्रत्यभिज्ञा के वारणार्थ दिया जाए अथवा नहीं इस विषय में व्याख्याकारों का मतभेद है। तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में

'मात्र' शब्द नहीं है। लक्षण में 'मात्र' पद का रहना अधिक उचित है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा (सोऽयं देवदत्तः = यह वही देवदत्त है) में पदार्थ की उपस्थिति आवश्यक है जबकि स्मृति में नहीं। स्मृति में सामने स्थित पदार्थ केवल उद्‌बोधक होता है। इस तरह स्मृति बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न न होकर भावना नामक संस्कार से होती है। इसका लक्षण होगा—'बहिरिन्द्रियाजन्यभावनाजन्यज्ञानत्व'। अनुमिति आदि ज्ञान भावना से उत्पन्न नहीं होते हैं। स्मृति दो प्रकार की है—यथार्थ-स्मृति (सच्चे ज्ञान से उत्पन्न होने वाली प्रमात्मक स्मृति) तथा अयथार्थस्मृति (मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने वाली अप्रमात्मक स्मृति। स्मृति के इन दोनों भेदों का विचार आगे किया जायेगा।

स्मृति से भिन्न सभी ज्ञानों को अनुभव कहा गया है—'स्मृति-भिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्'। न्यायदर्शन के अनुसार वे सभी ज्ञान जो पुरातन ज्ञान की आवृत्ति मात्र नहीं हैं, अनुभव हैं। ये अनुभव कभी यथार्थ (सही) होते हैं और कभी अयथार्थ (मिथ्या)। प्रशस्तपाद भाष्य में बुद्धि के भेद विद्या और अविद्या बतलाये हैं। अविद्या चार प्रकार की है—संशय, विपर्यय, स्वप्न और अनध्यवसाय। विद्या भी चार प्रकार की है—इन्द्रियज, अनिन्द्रियज, स्मृति तथा आर्ष (योगि-प्रत्यक्ष)।

[अनुभवः कतिविधः ?] स द्विविधः—यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः [यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्]। स एव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः [यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्]। सैवऽप्रमेत्युच्यते।

अनुवाद—[अनुभव कितने प्रकार का है ?] वह अनुभव दो प्रकार का है—यथार्थानुभव (सच्चा ज्ञान) और अयथार्थानुभव (मिथ्याज्ञान)। जो पदार्थ जैसा है उसमें उसी प्रकार का अनुभव

होना यथार्थ है। जैसे—चांदी में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान होना। वही 'प्रमा' कहलाती है। जो पदार्थ जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थ (मिथ्याज्ञान) है। जैसे—सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान।

व्याख्या—यथार्थानुभव को प्रमा (सच्चा ज्ञान) और अयथार्थानुभव को अप्रमा (मिथ्याज्ञान) कहा जाता है। प्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से चार प्रकार का है तथा अप्रमात्मक ज्ञान संशय, विपर्यय और तर्क के भेद से तीन प्रकार का है। इसका विचार आगे किया जायेगा।

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा' इस लक्षण में विशेष्य और प्रकार को समझना आवश्यक है क्योंकि जब किसी को विशिष्ट ज्ञान होता है तो वह विशेष्य और प्रकार (विशेषण) दोनों को लेकर होता है। विशेषणरूप से प्रतीयमान को 'प्रकार' कहते हैं और आश्रय-रूप से प्रतीयमान को विशेष्य कहते हैं। जैसे—'अयं घटः' इस ज्ञान में 'घट' है विशेष्य और घट में रहने वाला 'घटत्व' धर्म जो घट को पटादि से पृथक् करता है, घट का प्रकार है। अतः 'अयं घटः' का अर्थ हुआ 'घटविशेष्यकघटत्वप्रकारक' जो घट विशेष्य वाला है और घटत्व प्रकारवाला है, वह घट ज्ञान। इस तरह 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः' का अर्थ होगा 'घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारकोऽनुभवः'। इसे ही सरल शब्दों में कहा जायेगा 'जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप में ज्ञान प्रमा है। सांख्य एवं वेदान्त में 'अनधिगताबाधितार्थ-विषयत्वम्' (ऐसे पदार्थ का ज्ञान जिसका पहले ज्ञान नहीं हुआ है, और जो कभी बाधित नहीं होता है) प्रमा का लक्षण बतलाया है। 'अनधिगत' पद से यहाँ स्मृति का वारण किया गया है।

'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः' इस अप्रमा के लक्षण को भी पूर्ववत् समझना चाहिए। जैसे—सीप में 'इदं रजतम्' (यह चाँदी है) ऐसा ज्ञान 'रजतविशेष्यक-रजतत्वप्रकारक' नहीं है

अपितु रजतत्वाभाववद्विशेष्यक है क्योंकि यहाँ वास्तविक रजत का अभाव है। अतः अयथार्थ (मिथ्या, अप्रमा) है।

[यथार्थानुभवभेदाः के, के चानुभवानां करणानि ?]

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः—प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दभेदात् ।

अनुवाद—[यथार्थानुभव के कितने भेद हैं और अनुभवों के करण कितने प्रकार के हैं ?] प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से यथार्थानुभव चार प्रकार का है। उनके करण (असाधारण कारण) भी [क्रमशः] चार प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

व्याख्या—'मानाधीना मेयसिद्धिः' पदार्थ मात्र की सिद्धि प्रमाण के अधीन है। इस नियम के अनुसार यहाँ यह विचार प्रस्तुत है कि हमारा जो अनुभव है वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ. इसका निर्णय कैसे हो ? इसी प्रयोजन से ज्ञान को प्राप्त करने वाले साधनों की प्रामाणिकता का निश्चय किया जाता है। प्रमाण का स्वरूप है 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' (यथार्थ ज्ञान का असाधारण साधन प्रमाण है)। प्रमाण की परिभाषायें विभिन्न दर्शन के ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से मिलती हैं। अयथार्थ ज्ञान का कारण है इन्द्रिय आदि बाह्य कारणों में दोष होना। जैसे—आँख में पीलिया रोग के होने पर सफेद शङ्ख भी पीला दिखलाई पड़ता है। न्यायदर्शन के परतः प्रामाण्यवादी होने से वहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अन्य साधन को खोजा जाता है। आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि से प्रमाण पृथक् है।

घट में 'अयं घटः' (यह घड़ा है) इस प्रकार का ज्ञान होना प्रत्यक्षात्मक यथार्थानुभव है। पर्वत में धूम को देखकर 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत आगवाला है) इस प्रकार का ज्ञान होना यथार्थानुमिति है। गाय के सदृश गवय (वन पशु) को देखकर 'अयं गवयपदवाच्यः' (यह पशु 'गवय' शब्द-वाच्य है) इस प्रकार का ज्ञान यथार्थोपमिति है। 'अहं गच्छामि' (मैं जाता हूँ) इस वाक्य से जन्य-ज्ञान 'गमनानुकूलकृतिमानहम्' (गमनव्यापार के अनुकूल कृति वाला मैं हूँ) यह शाब्दबोधात्मक यथार्थ ज्ञान है। आगे इस विषय का विस्तार से विचार किया जायेगा।

[करणस्य, कारणस्य कार्यस्य च कानि लक्षणानि ?]

असाधारणं कारणं करणम् । कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् । कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ।

अनुवाद—[करण, कारण और कार्य के क्या लक्षण हैं ?] [कार्य के प्रति] जो असाधारण (विशेष) कारण होता है उसे करण कहते हैं। कारण उसे कहते हैं जो [घटादि] कार्यों की उत्पत्ति के पहले नियतरूप से (अवश्य) रहे [जैसे—घट के प्रति दण्ड, चक्र, कुलाल आदि]। कार्य वह है जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो।

व्याख्या—करण, कारण और कार्य ये तीनों शब्द देखने में अत्यन्त सरल हैं परन्तु न्यायदर्शन की पद्धति में समझना थोड़ा कठिन है। सामान्यरूप से उत्पन्न घटादि को 'कार्य' कहते हैं। कार्योत्पत्ति में सहायक तथा कार्योत्पत्ति से पहले रहने वाले मिट्टी, दण्ड, चक्रादि को 'कारण' कहते हैं। कार्योत्पत्ति के प्रति जो असाधारण (विशेष) कारण होता है उसे 'करण' कहते हैं।

करण-विचार—करण को समझने के पूर्व कारणों के दो प्रकारों को जानना आवश्यक है (१) साधारण कारण और (२) असाधारण कारण। साधारण कारण वे हैं जो समस्त कार्यों के प्रति कारण होते हैं। जैसे—ईश्वर, काल, अदृष्ट आदि। असाधारण कारण वे हैं जो सभी कार्यों के प्रति कारण नहीं होते परन्तु घट, पट आदि तत्तत् कार्यों के प्रति कारण-विशेष होते हैं। ये सभी कारण-

विशेष (असाधारण करण) करण नहीं कहलाते हैं। न्यायबोधिनीकार आदि प्राचीन नैयायिक करण का व्यापारवान् भी होना आवश्यक मानते हैं और तदनुसार करण का लक्षण होगा 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' (व्यापार = क्रिया वाला होते हुए जो कार्योत्पत्ति के प्रति असाधारण कारण हो वह करण है)। तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों के मूल में ऐसा भी लक्षण मिलता है। जैसे—'दण्ड' घट का असाधारण निमित्तकारण है और वह चक्र-भ्रमी रूप व्यापारवान् भी है। ज्ञान के प्रति इन्द्रियाँ करण हैं क्योंकि उनमें सन्निकर्ष-रूप व्यापार है। यदि व्यापार को आवश्यक नहीं माना जायेगा (जैसा कि नव्यनैयायिक मानते हैं) तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण हो जायेगा।

नव्यनैयायिकों के अनुसार 'करण' का लक्षण है—'फलायोग-व्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' फल के अयोग (अभाव) का अभाव (व्यवच्छिन्न) जिस कारण में हो वह करण है अथवा 'अविलम्बेन कार्योत्पादकत्व' जिसमें हो वह करण है। इसका तात्पर्य है "जिसके तुरन्त बाद कार्योत्पन्न हो अथवा कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण को करण कहते हैं।' यहाँ करण को व्यापारवान् होना आवश्यक नहीं है अपितु व्यापार ही करण है। इस लक्षण-भेद का फल यह हुआ कि प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति प्राचीन नैयायिकों के अनुसार इन्द्रियाँ करण हैं और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष व्यापार जबकि नवीन नैयायिकों के अनुसार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ही करण है। इसी तरह अनुमिति में प्राचीन नैयायिकों के अनुसार लिङ्ग-ज्ञान (व्याप्तिज्ञान) करण है जबकि नवीन नैयायिकों के अनुसार लिङ्ग-परामर्श करण है।

कारण-विचार—कारण को निश्चय ही कार्य से पूर्ववर्ती होना चाहिए अन्यथा वह कारण नहीं हो सकता है परन्तु कार्य की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती सभी पदार्थ कारण नहीं हो सकते हैं। अतः लक्षण में नियत-पूर्ववर्ती कहा गया है। 'नियतपूर्ववृत्तित्व' का अर्थ है—'अव्यवहित-

पूर्वकालावच्छेदेन कार्यदेशे सत्त्वम्' कार्यस्थल में कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्ववर्ती काल में नियतरूप से उपस्थित रहना। इस तरह कुम्भकार का पिता, वनस्थ दण्ड, गधा, बैलगाड़ी आदि घटरूप कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये पूर्ववर्ती तो हैं परन्तु नियत-पूर्ववर्ती नहीं हैं। ये कभी रहते हैं, कभी नहीं भी रहते हैं। इनके रहने और न रहने से कार्योत्पत्ति पर कोई असर नहीं पड़ता है।

इन्हें कार्योत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध (कार्य में अनुपयोगी होकर कार्यदेश में रहना) कहा जाता है। इस लक्षण में एक दोष है कि दण्डरूप और दण्डत्व जाति आदि जो कार्योत्पत्ति के प्रति अन्यथा-सिद्ध हैं वे कार्यनियतपूर्ववर्ति होने से कारण कहलाने लगेंगे। अतः इस अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए लक्षण में 'अनन्यथा-सिद्ध' (अन्यथासिद्ध का उल्टा) पद जोड़ना होगा और तदनुसार कारण का लक्षण होगा 'अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्'। इस तरह दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति आदि का वारण हो जाता है। दीपिका टीका में तीन प्रयोजक अन्यथासिद्ध के बतलाये हैं। जैसे—(१) कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध दण्डत्व और दण्ड रूप, (२) जिनका पूर्ववर्तित्व अन्य के पूर्ववर्तित्व की अपेक्षा रखता हो, ऐसे आकाशादि तथा कुम्भकार का पिता (शब्द के प्रति आकाश की पूर्ववर्तिता सिद्ध है उसे लेकर आकाश की पूर्ववर्तिता तथा कुम्भकार से पहले रहने वाला उसका पिता), (३) अन्य = कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले तत्त्व रासभ आदि तथा पाकज गुणोत्पत्ति के स्थल में रूप के प्रति रस का प्रागभाव। नैयायिकों के अनुसार कार्य के प्रति कार्य का प्रागभाव भी कारण माना जाता है। जैसे घट कार्य के प्रति घट का प्रागभाव भी कारण है। इसी प्रकार जब पाकज रूप, रसादि गुणों की उत्पत्ति होती है तो कार्य-रूप के प्रति कार्य-रूप का प्राग-भाग, कार्य-रस के प्रति कार्य-रस का प्रागभाव कारण होता है। रूप के प्रति रस का प्रागभाव और रस के प्रति रूप का प्रागभाव कारण

नहीं होता है किन्तु नियत पूर्ववृत्तिता रूप के प्रति जैसे रूप-प्रागभाव की है वैसे ही रस-प्रागभाग की भी है। अतः रूप के प्रति रूप-प्रागभाव की तरह रस-प्रागभाव आदि भी कारण न हों एतदर्थ उन्हें अन्यथासिद्ध बतलाया है। कारिकावली (१९-२२) में इन्हें ही ५ भागों में विभक्त किया है। कारण ३ प्रकार के हैं जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

कार्यविचार—जिसका कभी प्रागभाव रहा हो वह कार्य कहलाता है। आत्मा, आकाश, परमाणु आदि नित्य पदार्थ हैं, अतः इनका कभी भी प्रागभाव नहीं होता। प्रागभाव न होने से ये कार्य भी नहीं कहलाते। अनित्य घट, पटादि ही कार्य कहलाते हैं क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उनका अभाव रहता है। प्रागभाग स्वयं अपना प्रतियोगी नहीं हो सकता है, अतः वह भी कार्य नहीं है। कार्य के पारिभाषिक स्वरूप को समझने के पूर्व प्रतियोगी, अनुयोगी और प्रागभाव को समझना आवश्यक है। प्रागभाव (कार्योत्पत्ति के पूर्व रहने वाला अनादि सान्त अभाव) का विचार अभाव के प्रकरण में कर चुके हैं, आगे भी इसका विचार किया जायेगा।

प्रतियोगी, अनुयोगी आदि शब्दों का प्रयोग न्यायदर्शन में बहुत होता है। इसी कारण नव्य-न्याय की भाषा दुरूह हो गई है। प्रतियोगी एक बुद्धि-सापेक्ष सम्बन्ध है जो असत् पदार्थों में भी रह सकता है। इस सम्बन्ध को माने विना न्यायदर्शन का कार्य नहीं चल सकता है। क्योंकि नैयायिकों के अनुसार अभाव की स्वतन्त्र सत्ता है। अभाव के साथ भावात्मक छः पदार्थों का सम्बन्ध प्रतियोगिता-सम्बन्ध कहलाता है। जैसे—घटाभाव का प्रतियोगी है घट, पटाभाव का प्रतियोगी है पट। ये प्रतियोगिता-सम्बन्ध विरुद्धत्व-सम्बन्ध हैं जिसमें एक पदार्थ भावात्मक होता है और दूसरा अभावात्मक। प्रतियोगी की व्याख्या कई प्रकार से की गई है, यहाँ दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत है (१) 'यस्याभावः सः प्रतियोगी' जिसका अभाव

बतलाया जाता है वह उस अभाव का प्रतियोगी कहलाता है। जैसे—घटाभाव का प्रतियोगी घट, पटाभाव का प्रतियोगी पट। यह अभाव-प्रतियोगी का स्वरूप है। (२) 'यन्निरूपितं सादृश्यमन्यत्र नीयते स प्रतियोगी' जिसका (यन्निरूपित) सादृश्य अन्यत्र (मुखादि में) ले जाया जाता है वह (उपमान) प्रतियोगी कहलाता है। जैसे 'चन्द्रवत् मुखम्' (चन्द्रमा के समान मुख है) में चन्द्र है उपमान (जिससे सादृश्य बतलाया जाए) और मुख है उपमेय (जिसका सादृश्य बतलाया जाए)। यहाँ चन्द्रमा में रहने वाला धर्म (सौन्दर्य, आह्लाद आदि) मुख में ले जाया जा रहा है। अतः चन्द्रमा प्रतियोगी है। अनुयोगी—'अधिकरणमनुयोगी' अधिकरण = आश्रय अनुयोगी कहलाता है। जैसे—'घटाभाववद् भूतलम्' (यह भूतल घटाभाव वाला है) यहाँ भूतल अनुयोगी है और घट प्रतियोगी। इसी प्रकार सादृश्यस्थल में (यत्र सादृश्यं नीयते सोऽनुयोगी जहाँ सादृश्य ले जाया जाता है ऐसा उपमेय मुखादि अनुयोगी कहलाता है। इसे ही हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं 'जिस पदार्थ के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है, वह अनुयोगी कहलाता है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि घट यदि प्रतियोगी है तो प्रतियोगिता घट में रहेगी। घट यदि कार्य है तो कार्यता घट में ही रहेगी। मुख यदि अनुयोगी है तो अनुयोगिता भी मुख में ही रहेगी। दण्ड यदि कारण है तो कारणता दण्ड में ही रहेगी। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

इस विवेचन से कार्य का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। जैसे घट एक कार्य है और घटोत्पत्ति के पूर्व कपालद्वय में उसका प्रागभाव है। जब कपालद्वय से घट बन जाता है तो वह 'घट' घटाभाव का प्रतियोगी कहलाता है। अतः प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहा जाता है। कार्य की यह परिभाषा न्यायदर्शन के अनुसार है, अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं। इसके मूल में कार्यकरण-सम्बन्ध' का सिद्धान्त है। जैसे—

(१) न्याय-वैशेषिकों का असत्कार्यवाद—कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है तथा उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। यह सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' या आरम्भवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके यहाँ कारण सत् होता है और उस सत् कारण से असत् (अविद्यमान) घटादिकार्य उत्पन्न होते हैं जो कारण से भिन्न हैं। इस तरह ये सत् से असत् की उत्पत्ति मानते हैं। इसीलिए इनके यहाँ कार्य का लक्षण 'प्रागभावप्रतियोगी' किया गया है।

(२) बौद्धों का शून्यवाद—ये असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। इनके यहाँ प्रत्येक पदार्थ क्षणस्थायी है, अतः जब परवर्ती क्षण में कार्य उत्पन्न होता है तो कारण नष्ट हो चुका रहता है। अतः यह दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति मानने वाला शून्यवादी कहलाता है।

(३) सांख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद—ये सत् कारण का सत् कार्य के रूप में परिणमन मानते हैं। इनके अनुसार कारण में कार्य पहले से ही अव्यक्तरूप में विद्यमान रहता है, यदि ऐसा न माना जाए तो किसी भी पदार्थ से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति होने लगेगी। दूध का परिणमन जैसे दधी के रूप में होता है उसी प्रकार कारण कार्य के रूप में बदल जाता है। अतः दोनों की वास्तविक सत्ता है।

(४) वेदान्तियों का मायावाद या विवर्तवाद—ये कारण को सत् रूप मानते हैं परन्तु कार्य को असत् (माया = विवर्त)। इनके अनुसार कारण का कार्य के रूप में भ्रम होता है, जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति। ब्रह्म को नित्य मानने के कारण वेदान्ती कार्य को भ्रम मानते हैं।

[कारणानि कतिविधानि कानि च तेषां लक्षणानि ?]

कारणं त्रिविधं—समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा—तन्तवः पटस्य,

पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्। यथा—तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा—तुरीवेमादिकं पटस्य।

अनुवाद—[कारण कितने प्रकार के हैं और उनके क्या लक्षण है ?] समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से कारण तीन प्रकार के हैं। जिसमें (जिस द्रव्य में) समवाय-सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण है। जैसे—तन्तु (धागे) पट के [समवायिकारण हैं] और पट अपने रूप का [समवायिकारण है]। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है। जैसे—तन्तुओं का संयोग पट का [असमवायिकारण है] और तन्तु का रूप पट के रूप का [असमवायिकारण है]। इन दोनों (समवायिकारण और असमवायिकारण) से भिन्न कारण निमित्तकारण है। जैसे—तुरी, वेमा (जुलाहे के औजार) आदि पट के [निमित्तकारण] हैं।

व्याख्या—वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य ही समवायिकारण होता है। गुण और कर्म असमवायिकारण होते हैं। निमित्तकारण कोई भी हो सकता है। अभाव केवल निमित्तकारण होता है। नित्य द्रव्यों में रहने वाला विशेष कहीं भी कारण नहीं है। आत्मा में रहने वाले विशेष गुण किसी के भी असमवायिकारण नहीं हैं, वे निमित्तकारण माने जाते हैं। वैशेषिक दर्शन में जिसे समवायिकारण कहा जाता है उसे अन्यत्र उपादानकारण कहा जाता है परन्तु स्वरूप भिन्न है। असमवायिकारण को अन्य दार्शनिक स्वीकार नहीं करते हैं।

समवायिकारण द्रव्य ही होता है, अतएव द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले रूप, रस आदि गुणों और उत्क्षेपण आदि कर्मों की

उत्पत्ति के प्रति भी घट, पट आदि द्रव्य ही समवायिकरण होते हैं अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों कार्यों के प्रति समवायिकारण द्रव्य ही होता है। द्रव्य-कार्य के प्रति द्रव्य के अवयव समवायिकारण होते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण और कर्म पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। अतः पट कार्य से पटरूप कार्य भिन्न है। जब पटरूप कार्य पट से भिन्न है तो पटरूप के कारणों का भी विचार आवश्यक है। इस संदर्भ में पटरूप का समवायिकारण पट माना गया है और असमवायिकारण तन्तुरूप। इसी प्रकार घटरूप कार्य का समवायिकारण है घट तथा असमवायिकारण है कपालरूप। इस तरह कुछ कार्यों के समवायिकारण और असमवायिकारण निम्न हैं—

कार्य	**समवायिकारण तथा कार्य का अधिकरण**	**असमवायिकारण**	**असमवायिकारण का अधिकरण**
घट	कपालद्वय	कपालद्वय संयोग	कपाल
पट	तन्तु	तन्तुसंयोग	तन्तु
घटरूप	घट	कपालरूप	कपाल
पटरूप	पट	तन्तुरूप	तन्तु

सभी कार्य अपने-अपने समवायिकारणों में रहते हैं अर्थात् सभी कार्यों का अधिकरण उनके अपने अपने समवायिकारण होते हैं। जैसे घट कार्य का समवयिकारण कपालद्वय हैं। अतः घट का अधिकरण होगा 'कपालद्वय'। घटरूपकार्य का समवायिकारण है घट, अतएव घटरूप कार्य का अधिकरण होगा, 'घट'।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के इन मान्य सिद्धान्तों को समझने के बाद अब कारणों के स्वरूप का विचार प्रस्तुत है—

(१) **समवायिकारण**—'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्' अर्थात् जिसमें (जिस द्रव्य में) समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण है। अवयव (तन्तु) और अवयवी

(पट) का समवाय सम्बन्ध माना जाता है तथा अवयव में अवयवी समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः अवयव तन्तु 'समवायी' हैं और अवयवी पट उसमें 'समवेत' है। इस तरह कार्य अपने कारण में समवेत होता है। अतः जिस कारण (तन्तु) में कार्य (पट) समवाय सम्बन्ध से समवेत (रहते हुए उत्पन्न) हो वह समवायिकारण है।

जिस प्रकार अवयव और अवयवी में समवाय सम्बन्ध है उसी प्रकार गुण और गुणी में, क्रिया और क्रियावान् में भी समवाय सम्बन्ध है। अतः जब पटरूप आदि कार्य उत्पन्न होते हैं तो वे भी अपने अधिकरण पट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं अर्थात् पटरूप कार्योत्पत्ति के प्रति पट समवायी है और पटरूप उसमें समवेत है। इस तरह सर्वत्र समवायिकारण के लक्षण को घटा लेना चाहिए। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि न्यायवैशेषिक के कार्य-कारणवाद के सिद्धान्तानुसार तन्तुओं में (समवायिकारण में) जब पट उत्पन्न होता है तो सांख्य दर्शन की तरह तन्तु (कारण) पट के रूप में बदल नहीं जाते अपितु तन्तु भी बने रहते हैं और उसमें पट एक नया कार्य उत्पन्न हो जाता है। जो तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से 'समवेत होकर) रहता है। अतः समवायिकारण और उपादानकारण को एक नहीं समझना चाहिए।

(२) **असमवायिकारण**—'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्' अर्थात् कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है। इस परिभाषा को हम दो भागों में विभक्त करके निम्न प्रकार कह सकते हैं—

(क) **कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति**—जो समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से कार्य के साथ-साथ रहता हो वह असमवायिकारण है अर्थात्

जिसके असमवायिकारण का विचार हो रहा हो वह कार्य अपने असमवायिकारण के साथ एक अधिकरण में रहे। जैसे—पट कार्य का असमवायिकारण तन्तुसंयोग है जो तन्तुसंयोग अपने अधिकरण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। पट कार्य भी अपने समवायिकारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस तरह इस उदाहरण में 'तन्तु' पट कार्य का तथा तन्तुसंयोग (असमवायिकारण) का एकाधिकरण है। अतः तन्तुसंयोग पट कार्य के प्रति असमवायिकारण है। इसी तरह घट कार्य का असमवायिकारण कपालद्वय-संयोग तथा घट कार्य ये दोनों समवायिकारण कपालद्वय-रूप एक ही अधिकरण में रहते हैं, अतः कपालद्वय-संयोग घट के प्रति असमवायिकारण है।

(ख) **कारणैकार्थप्रत्यासत्ति**—जो असमवायिकारण अपने कार्य के समवायिकरण के साथ एक अधिकरण में रहता हो अर्थात् कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति में तो असमवायिकारण और कार्य दोनों एक साथ एक स्थान में रहते हैं जबकि कारणैकार्थप्रत्यासत्ति में असमवायिकारण तथा कार्य का समवायिकारण दोनों एक साथ एक स्थान में रहते हैं। जैसे—पटरूप कार्य के प्रति तन्तुरूप असमवायिकारण है तथा पट समवायिकारण है। इस उदाहरण में तन्तुरूप असमवायिकारण का अधिकरण तन्तु है तथा पटरूप कार्य के समवायिकारण का अधिकरण भी तन्तु है। इसी प्रकार घटरूप कार्य का असमवायिकारण कपाल-द्वयरूप का अधिकरण कपालद्वय है तथा घटरूप कार्य के समवायि-कारण का अधिकरण भी कपालद्वय है। अतः यहाँ कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति है।

चूंकि आत्मा के विशेषगुण कहीं भी असमवायिकारण नहीं माने जाते हैं, अतः लक्षण में 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' पद जोड़ देना चाहिए।

(ग) **निमित्तकारण**—'तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्' अर्थात् समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न सभी कारण निमित्त-

कारण हैं। जैसे—तुरी, वेमा आदि पट के प्रति तथा दण्ड, चक्र आदि घट के प्रति निमित्तकारण हैं। निमित्तकारण दो प्रकार के हैं—सामान्य निमित्तकारण और विशेष निमित्तकारण। सामान्यकारण वे हैं जो सभी कार्यों के प्रति समानरूप से कारण होते हैं। ऐसे कारण संख्या में आठ हैं—ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान, कृति, दिशा, काल, आकाश, इच्छा, प्रागभाव। विशेष निमित्तकारण अनेक हैं। तुरी, वेमा, जुलाहा आदि विशेष निमित्तकारण हैं। कारणविचार के प्रसङ्ग में इन्हीं निमित्तकारणों का विचार अपेक्षित होता है।

[करणस्य निष्कृष्टलक्षणं किम्?] तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।

अनुवाद—[करण का निष्कृष्ट लक्षण क्या है?] इन तीनों कारणों (समवायि, असमवायि और निमित्त) में जो असाधारण कारण हो वही करण कहलाता है।

व्याख्या—इसका विचार पहले किया जा चुका है।

(क) अथ प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छेदः

[प्रत्यक्षप्रमाणस्य किं लक्षणम्?] तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्।

अनुवाद—[प्रत्यक्ष प्रमाण का क्या लक्षण है?] उनमें (पूर्वोक्त चार प्रमाणों में) प्रत्यक्षज्ञान के करण (व्यापारयुक्त असाधारण कारण) को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

व्याख्या—'प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्' इस परिभाषा में प्रथम प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का तथा द्वितीय प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण का वाचक है। यदि 'प्रत्यक्षकरणम्' मात्र लक्षण करते तो प्रत्यक्षकरण दण्डादि में अतिव्याप्ति हो जाती। यदि 'ज्ञानकरणम्'

मात्र लक्षण करते तो अनुमिति आदि ज्ञानों में अतिव्याप्ति हो जाती। अतः 'प्रत्यक्षज्ञानकरणम्' ऐसा लक्षण किया गया। प्रत्यक्षज्ञान की करण इन्द्रियाँ हैं, अतः वे ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ऐसा ही लक्षण तर्कभाषा में किया गया है 'साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्' (साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात्कारिणी प्रमा वही है जो इन्द्रियजन्य हो)।

प्रश्न—'मन' इन्द्रिय से जन्य ज्ञान तो अनुमानादि भी हैं जिससे लक्षण अनुमानादि में अतिव्याप्त हो रहा है ?

उत्तर—यह सच है कि मन को अन्तरिन्द्रिय माना जाता है अतः जब आत्मा का मन के साथ, मन का बाह्य इन्द्रिय के साथ और बाह्य इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष सम्बन्ध होता है तभी घटादि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष होता है। मन को जो ज्ञानमात्र के प्रति कारण माना जाता है वह मनस्त्वेन माना जाता है, इन्द्रियत्वेन नहीं। अतः अनुमानादि के स्थल में मन 'इन्द्रियत्वेन' करण नहीं है अपितु 'मनस्त्वेन' करण है। अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती है। सुखादि के मानस-प्रत्यक्ष के स्थल में मन 'इन्द्रियत्वेन' करण होता है अतः वहाँ इन्द्रियजन्यता रहती है।

प्रश्न—ईश्वर-प्रत्यक्ष में लक्षण अव्याप्त है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है ?

उत्तर—यह लक्षण केवल जीवात्मा के प्रत्यक्ष का बतलाया है। ईश्वर का प्रत्यक्ष तो नित्य है और अलौकिक है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष के प्रति करण हैं अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि भी ?

उत्तर—सामान्यरूप से इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष के प्रति करण हैं परन्तु विशेष-विशेष स्थलों में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि को भी सापेक्ष करण कहा जाता है। जैसे—

करण	व्यापार	फल
(१) इन्द्रियाँ	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान
(२) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान
(३) निर्विकल्पकज्ञान	सविकल्पकज्ञान	हेय-उपादेय-उपेक्षा-बुद्धि

जो व्यापार को ही करण मानते हैं उनके यहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही करण (प्रत्यक्षप्रमाण) होगा। प्रत्यक्षप्रमाण को सभी दार्शनिक मानते हैं परन्तु उनके स्वरूप के विषय में मतभेद है। विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या पृथक्-पृथक् मानी है। जैसे—

(१) चार्वाक—एक (प्रत्यक्ष)
(२) बौद्ध और वैशेषिक—दो (प्रत्यक्ष और अनुमान)
(३) सांख्य—तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द)
(४) न्याय—चार (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान)
(५) प्रभाकर मीमांसक—पाँच (प्रत्यक्षादि चार तथा अर्थापत्ति)
(६) कुमारिलभट्ट मीमांसक एवं वेदान्ती—छः (प्रत्यक्षादि ५ तथा अभाव)
(७) पौराणिक—आठ (प्रत्यक्षादि ६, संभव तथा ऐतिह्य)
(८) जैन—छः (प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्क, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और आगम)

न्यायदर्शन के अनुसार अर्थापत्ति (उपपाद्य = पुष्टत्व के ज्ञान से उपपादक = रात्रिभोजन की कल्पना) का व्यतिरेकव्याप्तिमूलक अनुमान में, अभाव (अनुपलब्धि) का प्रत्यक्ष में, संभव (ब्राह्मण में विद्या संभव है) का अनुमान में, ऐतिह्य (परम्परा से प्राप्त वाक्य। जैसे—इस पेड़ में यक्ष है) का शब्द में, चेष्टा (तान्त्रिक लोग इसे नवम प्रमाण मानते हैं) का अनुमान में, तर्क का अनुमान में, प्रत्यभिज्ञा (सोऽयं देवदत्तः) का स्मृति और प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करके चार ही प्रमाण मानते हैं।

[प्रत्यक्षज्ञानस्य (प्रत्यक्षप्रमायाः) किं लक्षणं, कतिविधं च तत् ?] इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । (ज्ञानाऽकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।) तद्द्विविधम्—निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति । तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् । यथेदं किञ्चित् । सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम् । यथा डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति ।

अनुवाद—[प्रत्यक्षज्ञान = प्रत्यक्षप्रमा का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है ?] इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान या प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं । (अथवा—जिस ज्ञान में दूसरा ज्ञान कारण न हो उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं) । वह दो प्रकार का है—निर्विकल्पकप्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष । उनमें (दोनों प्रत्यक्षों में) प्रकारता से रहित (विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध ज्ञान से रहित) ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रकारता से सहित ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं । जैसे—यह डित्थ (लकड़ी का हाथी) है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है ।

व्याख्या—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण में 'सन्निकर्षध्वंस' में अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'ज्ञानम्' पद दिया है क्योंकि सन्निकर्षध्वंस भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य है । अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' पद दिया क्योंकि अनुमिति आदि ज्ञान भी जन्यज्ञान हैं । अनुमिति में नेत्रादि इन्द्रियों का साध्य अग्नि आदि के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है । न्याय-सिद्धान्तमुक्तावलि में 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' कहा है । जो उक्त लक्षण का ही द्योतक है । ये दोनों ही लक्षण जन्यप्रत्यक्ष के हैं यदि इसमें ईश्वर के नित्यप्रत्यक्ष को भी सम्मिलित करना चाहें तो कहेंगे 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान में अन्य ज्ञान

करण नहीं होता है । यह लक्षण ईश्वर-प्रत्यक्ष में भी चला जाता है । इस तरह चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण और मन इन ६ इन्द्रियों से इस ज्ञान के जन्य होने से यह प्रत्यक्ष क्रमशः चाक्षुष, श्रौत्र, स्पार्शन, रासन, घ्राणज और मानस के भेद से छः प्रकार का है । इन छहों से क्रमशः घट, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और आत्मा (सुख, दुःखादि का भी) का ज्ञान होता है । घटादि विषय के साथ जब तक इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं होगा तब तक ज्ञान नहीं होगा । सन्निकर्ष प्रथमतः दो प्रकार का है—(१) लौकिक सन्निकर्ष और (२) अलौकिक सन्निकर्ष । लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का है और अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है । इसका विचार सन्निकर्ष के प्रकरण में करेंगे ।

ग्रन्थ में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षज्ञान को दो प्रकार का बतलाया है—निर्विकल्पक और सविकल्पक । 'निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्' प्रकारता से रहित ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है । अर्थात् जिस ज्ञान में कौन विशेष्य है, कौन विशेषण है और उन दोनों में कौन-सा सम्बन्ध है, यह भान नहीं होता, केवल 'यह कुछ है' करके ज्ञान होता है, वही निर्विकल्पक है । व्यवहार में इस ज्ञान का प्रयोग नहीं है क्योंकि जो भी व्यवहार होता है वह विशेष्यविशेषणादि से सम्बन्धित होता है । शून्यवादी होने से बौद्ध दार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं । मायावाद मानने वाले वेदान्ती भी बौद्धपक्ष को ही मानते हैं । न्यायदर्शन में प्राचीन परम्परानुसार निर्विकल्पक प्रमारूप है परन्तु नव्यन्याय में प्रायः वह न प्रमा रूप है और न अप्रमा रूप । जैनदर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान को 'दर्शन' शब्द से कहा गया है—और इसे सविकल्पक ज्ञान की पूर्वावस्था माना है ।

न्यायदर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पारिभाषिक स्वरूप को समझने के लिए निम्न बातें जानना जरूरी हैं—

घटादि विषय हैं, अतएव उनमें विषयता रहती है। वह विषयता तीन प्रकार की होती है—विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता। जैसे —'ब्राह्मणोऽयम्' (यह ब्राह्मण है) ऐसा प्रत्यक्ष होने पर 'अयम्' पद में विशेणता, ब्राह्मण पद में प्रकारता (विशेष्यता) तथा उन दोनों पदों के संबन्ध में संसर्गता रहती है। अथवा ब्राह्मण विशेष्य है और ब्राह्मणत्व प्रकार है और उनका सम्बन्ध संसर्ग है। इस तरह यह ज्ञान सप्रकारक ज्ञान (विशेषण-विशेष्यसम्बन्धावगाही ज्ञान) होने से सविकल्पक है और जो ज्ञान 'विशेषणविशेष्यसम्बन्धाऽनवगाही' है वह निर्विकल्पक है। जैसे—यह कुछ है।

इस तरह हम देखते हैं कि जब कोई पदार्थ हमारे कुछ निकट आता है तो उससे हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष सम्बन्ध होता है, पश्चात् हमें एक धुंधला सा ज्ञान होता है कि 'यह कुछ है'। यही निर्विकल्पक है। पश्चात् विषय जब और निकट आता है तो उसके विशेष्य, विशेषण और उसके सम्बन्ध का ज्ञान होता है (अनुभूत विषय में ज्ञान शीघ्रता से होता है, अतः वहाँ क्रम का पता नहीं चलता है)। इसके होने पर ही एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से भेद किया जा सकता है। जैसे--'अयं घटः' इस ज्ञान में घट विशेष्य है और उसमें घटत्व जाति प्रकार है जो उसे पटादि के ज्ञान से पृथक् करती है। इस तरह यह विशिष्टज्ञान कहलाता है, अतः सविकल्पक को विशिष्टज्ञान कहते हैं। इस विशिष्टज्ञान के होने के ही कारण इससे पूर्ववर्ती ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। अतः दीपिका में 'विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहिज्ञानम्' को निर्विकल्पक तथा 'नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहिज्ञानम्' को सविकल्पक कहा है। यह निश्चित है कि विशेषणज्ञान के बिना विशेष्य को नहीं जाना जा सकता है। अतः कहा है—'नागृहीतविशेषणा-बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामति'।

बौद्ध निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं अतः उनके यहाँ प्रत्यक्षज्ञान की परिभाषा है 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'

(नाम, जाति आदि से रहित और कल्पना से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है)। गौतम मुनि ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में कहा है 'अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्'। यहाँ अव्यभिचारी (दोषरहित) के प्रयोग से अप्रमा का निराकरण किया गया है। अव्यपदेश्य (जिसका नामादि से कथन न किया जा सके) तथा व्यवसायात्मक (विशिष्टावगाही) पदों के द्वारा क्रमशः निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्षों का संग्रह किया गया है।

[सन्निकर्षः कतिविधः ?] प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभावश्चेति। [घटद्रव्यप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः ?] चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। [घटरूपगुणप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः ?] घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। [रूपत्वप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः ?] रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्। [शब्दप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः ?] श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। [शब्दत्वसाक्षात्कारे कः सन्निकर्षः ?] शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। [अभावप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः ?] अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः। घटाभाववद् भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।

अनुवाद—[सन्निकर्ष कितने प्रकार का है ?] प्रत्यक्षज्ञान का हेतु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (घटादिविषयों के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष-सम्बन्ध) छः प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, सयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। [घट द्रव्य के प्रत्यक्ष में कौन सा सन्निकर्ष है ?] चक्षु से घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग-सन्निकर्ष है। [घटरूप के प्रत्यक्ष में कौन सा सन्निकर्ष है ?] घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवायसम्बन्ध से रहता है। [रूपत्व के प्रत्यक्ष में कौन सा सन्निकर्ष है ?] रूपत्व सामान्य (जाति) के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय-सन्निकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध (समवेत) से है और उसमें (घटरूप में) रूपत्व समवाय सम्बन्ध से है। [शब्द के प्रत्यक्ष में कौन सा सन्निकर्ष है ?] कर्ण से शब्द का प्रत्यक्ष करने में समवाय सन्निकर्ष है क्योंकि कर्णविवर (कान का छिद्र) में जो आकाश है वही श्रोत्रेन्द्रिय है, शब्द आकाश का गुण है तथा गुण और गुणी का समवायसम्बन्ध होता है। [शब्दत्व के साक्षात्कार में कौन सा सन्निकर्ष है ?] शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय सन्निकर्ष है क्योंकि श्रोत्र में समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाला) शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है। [अभाव के प्रत्यक्ष में कौन सा सन्निकर्ष है ?] अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है क्योंकि 'घटाभाव वाला भूतल है' यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है।

व्याख्या—प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण में कहा गया था 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'। सन्निकर्ष शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ कहा गया है 'प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियाऽर्थसन्निकर्षः' अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ का वह सम्बन्ध विशेष जो प्रत्यक्षज्ञान कराने में विशेष कारण है, सन्निकर्ष है। 'करण' के विचार के संदर्भ में बतलाया गया था कि प्राचीन नैयायिकों के अनुसार करण में

व्यापार का होना आवश्यक है और नव्य नैयायिकों के अनुसार व्यापार ही करण है। तदनुसार प्राचीन नैयायिकों ने इन्द्रिय को प्रमाण स्वीकार किया है और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को व्यापार। व्यापार वह है जो स्वयं द्रव्य न होते हुए भी करण से जन्य हो और करण से जन्य फल का जनक हो (द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः)। इस तरह सन्निकर्ष को प्रत्यक्षज्ञान का हेतु माना गया है। यह सन्निकर्ष प्रथमतः दो प्रकार का माना गया है—लौकिक सन्निकर्ष और अलौकिक सन्निकर्ष। लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का है और अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है। अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद हैं—१. **सामान्यलक्षण सन्निकर्ष**—व्याप्तिज्ञान के स्थल में धूमत्व सामान्य से समस्त धूम की प्रतीति इसी सन्निकर्ष से होती है। २. **ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष**—'यह वही देवदत्त है', 'यह चन्दन सुरभि है' इत्यादि स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप प्रत्यभिज्ञान में जो सन्निकर्ष हेतु है, वह है ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष। ३ **योगज सन्निकर्ष**—योगियों को होने वाला। यहाँ ग्रन्थ में लौकिक सन्निकर्ष का ही प्रतिपादन किया गया है, उसके छः भेदों का और उनसे होने वाले प्रत्यक्ष का निरूपण निम्न हैं—

(१) **संयोग सन्निकर्ष**—यह सन्निकर्ष दो द्रव्यों में होता है। अतः घटादि द्रव्यों का जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तो घटादि विषयों के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है क्योंकि घटादि विषय तथा चक्षु इन्द्रिय दोनों ही द्रव्य हैं। स्पार्शन इन्द्रिय से भी द्रव्य का प्रत्यक्ष माना जाता है। अतः जब त्वचा इद्रिय का घटादि विषयों के साथ संयोग होता है तो उसका प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त आत्मा और मन का संयोग होने पर भी संयोग सन्निकर्ष होता है। शेष इन्द्रियों से द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः वहाँ संयोग-सन्निकर्ष नहीं माना जाता है। इस तरह द्रव्य के चाक्षुष, त्वाच और मानस प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष होता है। वैशेषिकों के अनुसार आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस संदर्भ में अन्नम्भट्ट

मौन हैं। वायु के त्वाच प्रत्यक्ष के विषय में दो मत हैं जो उद्भूत रूप को भी त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानते हैं उनके यहाँ वायु अनुमेय है और जो नव्य) त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति केवल उद्भूत स्पर्श को कारण मानते हैं उनके यहाँ वायु का त्वाच प्रत्यक्ष होता है।

(२) **संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष**—द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण और कर्म का भी प्रत्यक्ष नैयायिक मानते हैं। अतः जब इनका प्रत्यक्ष होता है तो इन्द्रिय का इनके साथ सीधा सम्पर्क न होकर परम्परया होता है। जैसे—घटरूप के प्रत्यक्ष में चक्षु का घट के साथ संयोग (संयुक्त) होगा पश्चात् घट में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूप का प्रत्यक्ष होगा। इस परम्परया सम्बन्ध का ही नाम है 'संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष'। इस तरह घटादि द्रव्यों में रहने वाले रूपादि गुणों (शब्द गुण को छोड़कर) तथा कर्मों का प्रत्यक्ष इसी सन्निकर्ष से होता है। घ्राण इन्द्रिय और रसना इन्द्रिय से जो क्रमशः गन्ध और रस का प्रत्यक्ष होता है वह इसी सन्निकर्ष से होता है। घटत्व आदि जातियों का प्रत्यक्ष भी संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से ही होगा क्योंकि वे घटादि में समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। इस तरह जो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहेगा उसके प्रत्यक्ष के प्रति संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष कारण होगा। श्रोत्र को छोड़कर शेष इन्द्रियों से यह सन्निकर्ष होता है।

(३) **संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष**—द्रव्य में समवेत (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) जो गुणादि पदार्थ हैं उनमें भी समवेत (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) रूपत्व आदि का प्रत्यक्ष होने पर संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष होता है। जैसे—घटगत रूपत्व जाति के चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षु का घट के साथ संयोग (संयुक्त) होगा पश्चात् घट में समवाय संबन्ध से रहने वाले (समवेत) रूप के साथ संयुक्त-समवाय होगा और इसके बाद रूप में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूपत्व के साथ चक्षुसंयुक्तसमवेत-समवाय सन्निकर्ष होगा। इसी

तरह रसत्व, स्पर्शत्व, गन्धत्व आदि गुणगत जातियों का तथा कर्मगत कर्मत्व जाति का भी प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से होता है। यह भी परम्परया सम्बन्ध है। यह सन्निकर्ष कर्ण इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों के साथ पाया जाता है।

(४) **समवाय सन्निकर्ष**—शब्द गुण के प्रत्यक्ष में समवाय सन्निकर्ष कारण होता है क्योंकि शब्द आकाश का गुण माना जाता है। गुण (शब्द) गुणी (आकाश) में समवाय सम्बन्ध से रहता है। नैयायिकों के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण विवर) आकाश ही है, अन्य कुछ नहीं। द्रव्यात्मक श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द गुण के साथ संयोग सन्निकर्ष हो नहीं सकता है, अतः यहाँ सीधा समवाय सन्निकर्ष माना गया है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जाता है कि जब समवाय नित्य सम्बन्ध है तो वहाँ व्यापार का लक्षण कैसे जायेगा? दीपिका टीका में इसका उत्तर दिया है कि शब्द-प्रत्यक्ष में शब्द ही व्यापार है अथवा श्रोत्रेन्द्रिय एवं मन का संयोग व्यापार है। यह सन्निकर्ष केवल शब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रेन्द्रिय के साथ पाया जाता है।

(५) **समवेत-समवाय सन्निकर्ष**—शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में समवेत-समवायसन्निकर्ष कारण होता है। शब्द का और श्रोत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष समवाय है तथा शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली शब्दत्व जाति के साथ समवेत-समवाय सन्निकर्ष होता है।

(६) **विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष**—अभाव पदार्थ के प्रत्यक्ष में विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है। अभाव प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में एक प्रश्न है कि अभाव के साथ इन्द्रिय का न तो संयोग सम्बन्ध संभव है और न समवाय, फिर उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? मीमांसक एवं वेदान्ती तो अभाव के ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं अपितु अनुपलब्धि नामक अलग प्रमाण मानते हैं। परन्तु नैयायिकों ने अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं माना है। अतः वे अभाव के प्रत्यक्ष के लिए विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध मानते हैं। जैसे—'भूतले घटाभावः' भूतल में घट का अभाव है। यहाँ भूतल अधिकरण है और उसमें

घटाभाव स्वरूप संबन्ध (संयोगादि वृत्तिनियामक सम्बन्धों से भिन्न सम्बन्ध) से रहता है। जब हम घटाभाव का प्रत्यक्ष करते हैं तो वाक्य-प्रयोग के भेद से कभी घटाभाव विशेषण होता है और कभी विशेष्य। इसी भेद के कारण इस सम्बन्ध के दो भेद संभव हैं। जैसे—(१) **विशेषणता सन्निकर्ष**—जिसमें अभाव को विशेषण बनाया जाए। जैसे—'घटाभाववत् भूतलम्' घटाभाव वाला भूतल है। यहाँ भूतल है विशेष्य और घटाभाव है विशेषण। अतः यहाँ चक्षुसंयुक्तभूतल में घटाभाव विशेषणतासन्निकर्ष से ज्ञात हुआ। (२) **विशेष्यता सन्निकर्ष**—जिसमें अभाव को विशेष्य बनाया जाए। सप्तम्यन्त पद विशेषण माना जाता है। जैसे—'इह भूतले घटो नास्ति' इस भूतल में घट नहीं है। यहाँ सप्तम्यन्त भूतल विशेषण है और अभाव विशेष्य। अतः यहाँ चक्षुसंयुक्त-भूतलरूप विशेषण में घटाभाव विशेष्यता सन्निकर्ष से ज्ञात हुआ। नैयायिक अभाव की तरह 'समवाय' पदार्थ का भी प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु वैशेषिक समवाय का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। अन्नम्भट्ट ने केवल अभाव का प्रत्यक्ष यहाँ बतलाया है। यह विशेष्य-विशेषणता सम्बन्ध कई प्रकार का है। विशेष के लिए देखें कारिकावली ६२ पर न्यायसिद्धान्तमुक्तावली।

प्रश्न—जाति, समवाय और अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का नियामकत्व क्या है ?

उत्तर—येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते' अर्थात् जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति, समवाय और अभाव का भी ग्रहण होता है।

[प्रत्यक्षप्रमाणस्य निष्कृष्टं लक्षणं किम् ?] एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तत्करणमिन्द्रियं, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

[इति प्रत्यक्षपरिच्छेदः]

अनुवाद—इस प्रकार छः प्रकार के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष [प्रमा] कहते हैं, उसका करण इन्द्रिय है, अतः इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

[प्रत्यक्ष-परिच्छेद समाप्त]

(ख) अथाऽनुमानप्रमाणपरिच्छेदः

[अनुमानस्य किं लक्षणम् ?] अनुमितिकरणमनुमानम्। [अनुमितिः का ?] परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। [परामर्शस्य किं स्वरूपम् ?] व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञान परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः। [व्याप्तिः का ?] 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। [पक्षधर्मतायाः किं लक्षणम् ?] व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अनुवाद—[अनुमान का क्या लक्षण है ?] अनुमिति का करण अनुमान है। [अनुमिति क्या है ?] परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। [परामर्श का क्या स्वरूप है ?] व्याप्ति से विशिष्ट (धूम = हेतु) का पक्षधर्मता-ज्ञान (पक्ष = पर्वत में रहने का ज्ञान परामर्श है। जैसे—'यह पर्वत वह्निव्याप्य [वह्निव्याप्तिविशिष्ट] धूमवाला है' यह ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श से उत्पन्न होने वाला 'पर्वत आग वाला है' यह ज्ञान अनुमिति है। [व्याप्ति क्या है ?] 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है' इस साहचर्य-नियम (समान अधिकरण में रहना) को व्याप्ति कहते हैं। [पक्षधर्मता का क्या लक्षण है ?] व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट धूम आदि हेतु) का पर्वत (पक्ष) आदि में रहना पक्षधर्मता है।

व्याख्या—अनुमान प्रमाण है और अनुमिति प्रमा अर्थात् अनुमान साधन (करण) है और अनुमिति फल (साध्य = ज्ञान)। अतः अनुमिति के करण को अनुमान कहा जाता है। अब प्रश्न यह है कि अनुमिति का करण क्या है? इसके उत्तर में प्राचीन नैयायिक व्याप्ति-ज्ञान को करण मानते हैं तथा नवीन नैयायिक परामर्श को। ग्रन्थकार अन्नम्भट्ट यहाँ नवीन नैयायिकों के पक्ष का आश्रय लेकर 'परामर्श' को अनुमिति का करण मानते हुए कहते हैं 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' अर्थात् परामर्श है 'अनुमान प्रमाण' और तज्जन्य ज्ञान है 'अनुमिति'। प्राचीनों के मत में 'परामर्श' व्यापार है। अब प्रश्न है कि 'परामर्श' का क्या अर्थ है? परामर्श शब्द का अर्थ है—'व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष में रहने का ज्ञान' (व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः) अर्थात् साध्य (व्यापक = अग्नि आदि) के साथ नियतरूप से रहने वाले साधन (व्याप्य = धूमादि) का साध्य-स्थल (पक्ष = पर्वतादि) में रहने का ज्ञान परामर्श है। न्यायदर्शन में अनुमान के पाँच अवयव माने गये हैं—

१. प्रतिज्ञा—पर्वतो वह्निमान् (पर्वत में आग है)।

२. हेतु—धूमवत्वात् (क्योंकि पर्वत में धूम है)।

३. उदाहरण—यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम् (जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग रहती है। जैसे रसोईघर)।

४. उपनय—तथा चायम् (यह पर्वत भी रसोईघर के समान वह्निव्याप्य धूमवाला है)।

५. निगमन—तस्मात्तथा (अतः यह पर्वत भी आग वाला है)।

इस पाँच अवयव वाले उदाहरण में पर्वत पक्ष (जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है) है। पर्वत में आग की सत्ता साध्य है। धूम हेतु (लिङ्ग) है। रसोईघर सपक्ष (प्रसिद्ध उदाहरणस्थल) है। धूम और आग के साहचर्य को बतलाने वाला उदाहरण-वाक्य व्याप्ति है। उदाहृत व्याप्ति की विशेषता से विशिष्ट हेतु (धूम) का पक्ष (पर्वत) में रहने का प्रतिपादन करने वाला वचन उपनय (हेतु का उपसंहार) है। 'पक्ष (पर्वत) में साध्य (आग) की स्थिति अबाधित है' ऐसा प्रतिपादक वाक्य निगमन (साध्य का उपसंहार) है। धूम आदि हेतु 'व्याप्य' है। आग आदि साध्य 'व्यापक' है। तपाये गये लौहपिण्ड में आग तो है, परन्तु धूम नहीं है। ऐसा होने पर भी जहाँ धूम रहता है वहाँ आग अवश्य रहती है। इस तरह विध्यात्मक अनुमिति में हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक। इन दोनों के साहचर्य-नियम को ही व्याप्ति कहते हैं। जहाँ साध्य का पहले से निश्चय रहता है उसे सपक्ष कहते हैं, जैसे रसोईघर। जहाँ साध्य के अभाव का निश्चय रहता है उसे विपक्ष कहते हैं, जैसे—तालाब। हेतु को ही लिङ्ग कहते हैं। पञ्चमी या तृतीया विभक्ति के द्वारा इसे प्रदर्शित किया जाता है। हेतु को पक्ष और सपक्ष में रहना चाहिए तथा विपक्ष में नहीं रहना चाहिए, तभी सही अनुमिति होती है। इसका विचार आगे करेंगे। अनुमानादि का स्वरूप निम्न है—

अनुमान प्रमाण—'अनुमितिकरणमनुमानम्' जिससे अनुमिति हो उसे अनुमान कहते हैं। परामर्श को आवश्यक मानने वाले प्राचीन नैयायिकों के अनुसार 'व्याप्तिज्ञान' अनुमान है और 'परामर्श' व्यापार। परन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार 'परामर्श' ही अनुमान है। अतः 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' कहा है, यहाँ परामर्शजन्य का अर्थ है 'लिङ्गपरामर्शजन्य'। अतः ग्रन्थकार आगे स्वयं कहते हैं 'स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्ग-परामर्शोऽनुमानम्'।

अनुमिति—'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' लिङ्गपरामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है। इसका आकार है 'पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानम्' 'पर्वत आग वाला है' यह ज्ञान अनुमिति है।

परामर्श—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष में रहने का ज्ञान परामर्श है। जैसे—वह्नि का व्याप्य (व्याप्ति से विशिष्ट) धूम (हेतु) का पर्वत (पक्ष) में

रहने का ज्ञान 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः' अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतु का साध्य-स्थल पर्वतादि में रहने का ज्ञान परामर्श है।

व्याप्ति—'साहचर्यनियमो व्याप्तिः' हेतु और साध्य का त्रैकालिक साहचर्य-नियम व्याप्ति है। साहचर्य को ही सामानाधिकरण्य (एक आश्रय में रहना) और अव्यभिचरितत्व (साध्याऽभाववदवृत्तित्वम् = साध्याभाव वाले स्थल में न रहना) भी कहा जाता है। इस तरह व्याप्ति एक प्रकार का साध्य और साधन का सम्बन्ध विशेष है। यह व्याप्ति दो प्रकार की है—(क) **अन्वयव्याप्ति**—इसमें हेतु के रहने पर साध्य का सद्‌भाव बतलाया जाता है। अतः साधन (धूम) व्याप्य होता है और साध्य (अग्नि) व्यापक। जैसे—यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्निः, यथा महानसम् (जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है, जैसे—रसोईघर)। (ख) **व्यतिरेकव्याप्ति**—इसमें साध्य के अभाव से साधन का अभाव बतलाया जाता है। अतः साध्याभाव (वह्न्याभाव) व्याप्य होता है और साधनाऽभाव (धूमाभाव) व्यापक होता है। जैसे—यत्र यत्र वह्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः, यथा जलह्रदः (जहाँ जहाँ आग का अभाव है वहाँ वहाँ धूम का अभाव है, जैसे—तालाब आदि)। अयोगोलक (तप्त लौहपिण्ड) में आग तो है परन्तु धूम नहीं है। अतः व्यतिरेकव्याप्ति में साधनाभाव से साध्याभाव होता है ऐसा नहीं कह सकते हैं, अन्यथा अयोगोलक में व्यभिचार (दोष) होगा क्योंकि अयोगोलक में साधनाभाव (धूमाभाव) तो है परन्तु साध्याभाव (वह्न्याभाव) नहीं है। अतः व्यतिरेकव्याप्ति में हमेशा साध्याभाव से साधनाभाव बतलाया जाता है।

पक्षधर्मता—'व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता' व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट धूम) का पर्वतादि पक्ष में रहना पक्षधर्मता है। हेतु की पक्षधर्मता जाने बिना व्याप्ति बन ही नहीं सकती है। अतः सद् हेतु को सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृतत्व के साथ पक्षसत्त्व भी होना जरूरी है।

[अनुमानं कतिविधम् ?] अनुमानं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। [स्वार्थानुमानस्य किं स्वरूपम् ?] तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि—स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्नि' रिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाऽग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्नि' रिति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्। [परार्थानुमानस्य किं स्वरूपम् ?] यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत् परार्थानुमानम्। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा' इति। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

अनुवाद—[अनुमान कितने प्रकार का है ?] अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। [स्वार्थानुमान का क्या स्वरूप है ?] उनमें (स्वार्थ और परार्थ अनुमान में) अपनी अनुमिति के हेतु को स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे—स्वयं ही बार-बार देखने से 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है' इस प्रकार रसोईघर आदि में व्याप्ति को जानकर पर्वत के पास गया और वहाँ स्थित आग में सन्देह करता हुआ पर्वत में धूम को देखकर व्याप्ति का स्मरण करता है 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है।' इसके बाद 'यह

पर्वत वह्निव्याप्य धूमवाला है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे ही 'लिङ्ग-परामर्श' कहते हैं। इस परामर्श से 'पर्वत आगवाला है' ऐसा अनुमितिज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है। [परार्थानुमान का क्या स्वरूप है ?] जो स्वयं धूम हेतु से अग्नि का अनुमान करके दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए पाँच अवयवों वाले वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे—'पर्वत आग वाला है, क्योंकि वह धूम वाला है, जो जो धूम वाला है वह वह आग वाला है, जैसे रसोईघर, वैसा ही यह (पर्वत) भी है, अतः वैसा (यह पर्वत आग वाला) है।' इस प्रकार कहे गये (पाँच अवयवों से युक्त वाक्य से प्रतिपादित) लिङ्ग (हेतु = धूमादि) से पर (दूसरा व्यक्ति) भी अग्नि को जान लेता है।

व्याख्या—स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार का है। इन दो भेदों का प्रथमतः उल्लेख प्रशस्तपादभाष्य में मिलता है। इनके क्रमशः स्वरूप निम्न हैं—

(१) **स्वार्थानुमान**—'स्वस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मात्तत् स्वार्थम्, स्वप्रयोजनं च स्वस्याऽनुमेयप्रतिपत्तिः' अपना प्रयोजन जिससे हो वह है 'स्वार्थ'। इस तरह यहाँ बहुव्रीहि समास होगा। स्व-प्रयोजन (अपना प्रयोजन) का अर्थ है—अपने लिए अनुमेय (आग आदि) का ज्ञान। अर्थात् जब अनुमान करने वाला स्वयं अनुमेय का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। इस अनुमान में प्रतिज्ञा आदि पंचावयव-वाक्य के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, अतः न्यायबोधिनी में स्वार्थानुमान को न्याय-अप्रयोज्य कहा है 'स्वार्थानुमानं नाम न्यायाप्रयोज्यानुमानम्, न्यायप्रयोज्यानुमानं परार्थानुमानम्। न्यायत्वं च प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकसमुदायत्वम्' यहाँ न्याय शब्द का अर्थ है—'प्रतिज्ञादि-पञ्चावयववाक्य'। स्वार्थानुमान की प्रक्रिया अन्नम्भट्ट ने निम्न प्रकार से बतलाई है—सर्वप्रथम अनुमाता पर्वत (पक्ष) पर धूम को देखता है। धूम देखकर उसे पर्वत में आग के होने का संदेह होता है। पश्चात् पूर्वगृहीत व्याप्तिज्ञान का स्मरण

होता है। इसके बाद 'वह्निव्याप्य धूम वाला यह पर्वत है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। यही ज्ञान 'लिङ्गपरामर्श' कहलाता है। इस लिङ्ग-परामर्शात्मक ज्ञान से अनुमाता को 'इस पर्वत में आग है' ऐसा ज्ञान पैदा होता है। यही स्वार्थानुमिति कहलाती है। इस स्वार्थानुमिति का करण 'लिङ्गपरामर्श' ही स्वार्थानुमान है। इस लिङ्गपरामर्श को तृतीय ज्ञान भी कहते हैं।

(२) **परार्थानुमान**—जो दूसरे के लिए हो वह है 'परार्थ', अतः जब दूसरे व्यक्ति को धूमादि हेतु से अग्नि आदि साध्य की अनुमिति कराई जाती है तो उस श्रोता को समझाने के लिए प्रतिज्ञादि पाञ्चावयव-वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यह स्वार्थानुमान के बाद ही संभव है। इस तरह दूसरे को अनुमिति कराने के लिए अनुमापयिता के द्वारा प्रयोग किया गया पञ्चावयव वाक्य ही परार्थानुमान है। इस पञ्चावयव वाक्य को सुनकर श्रोता को व्याप्तिज्ञान एवं परामर्श होता है। पश्चात् वह भी 'यह पर्वत आग वाला है' ऐसी अनुमिति कर लेता है, अर्थात् पञ्चावयव वाक्य से प्रतिपादित लिङ्ग (धूमादि हेतु) से दूसरा भी पर्वत में आग को समझ जाता है। यहाँ उपचार से पञ्चावयव वाक्य को अनुमान कहा गया है क्योंकि वह लिङ्ग-परामर्श के प्रयोजक लिङ्ग का प्रतिपादक है।

इस तरह स्वार्थानुमान में हम स्वयं अपने अनुभव से अनुमान कर लेते हैं जबकि परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्यप्रयोग के द्वारा दूसरे के लिए समझाते हैं।

अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद भी बतलाये जाते हैं।

(१) **पूर्ववत्**—का अर्थ है 'कारण से कार्य का अनुमान'। जैसे—घने एवं काले मेघों को देखकर वर्षा होने का अनुमान। (२) **शेषवत्** का अर्थ है 'कार्य से कारण का अनुमान'। इसमें निषेधपरक

व्यतिरेकव्याप्ति से अनुमान होता है। जैसे—शब्द गुण है, क्योंकि वह न द्रव्य है और न कर्म। (३) सामान्यतोदृष्ट का अर्थ है, कारण-कार्य-सम्बन्ध के आधार पर परोक्ष पदार्थ का अनुमान। जैसे—'आत्मा है, बुद्धि आदि गुणों का अधिष्ठान होने से।' इनके स्वरूप के विषय में कुछ अन्तर भी पाया जाता है। केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि के भेद से भी अनुमान के तीन भेद किए जाते हैं। अन्नम्भट्ट ने इसे हेतु का विभाजन स्वीकार किया है, अनुमान का नहीं। इसका प्रतिपादन आगे करेंगे।

प्रश्न—कुछ स्थानों पर धूम और आग का साहचर्य देखकर त्रैकालिकसम्बन्धावच्छिन्न व्याप्ति कैसे बन सकती है ? समस्त धूम एवं आग वाले स्थलों को हम देख नहीं सकते हैं फिर अनुमान कैसे होगा ?

उत्तर—यह सच है कि हम त्रैकालिक धूम और आग के सम्बन्धों को नहीं जान सकते हैं परन्तु सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष से व्याप्तिज्ञान हो जाता है।

[पञ्चावयवाः के ?] प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमानित्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

अनुवाद—[पञ्चावयव कौन हैं ?] प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव हैं। १. 'पर्वत आग वाला है' यह प्रतिज्ञा है। २. 'धूम वाला होने से' यह हेतु है। ३. 'जो जो धूम वाला है वह वह आग वाला है' यह उदाहरण है। ४. 'वैसा ही (वह्निव्याप्य धूम वाला) यह (पर्वत) है' यह उपनय है। ५. 'इसीलिए वैसा (यह पर्वत आग वाला) है' यह निगमन है।

व्याख्या—परार्थानुमान में जिस पञ्चावयव वाक्य को बतलाया गया है उसके ही ये पाँच अवयव हैं। इसकी सामान्य चर्चा अनुमान

के लक्षण-प्रसङ्ग में भी की गई है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में प्रतिज्ञादि पाँच अवयव निम्न प्रकार होंगे—

(१) **प्रतिज्ञा**—साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा = वह्नि आदि साध्य से युक्त पर्वत आदि पक्ष का बोध कराने वाले वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—'पर्वतो वह्निमान्' पर्वत आग वाला है।

(२) **हेतु**—पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः = पञ्चम्यन्त लिङ्ग के प्रतिपादक वचन को हेतु कहते हैं। जैसे—'धूमात्' या 'धूमवत्त्वात्' (धूम वाला होने से)।

(३) **उदाहरण**—व्याप्तिप्रतिपादकं वचनमुदाहरणम् = व्याप्ति का प्रतिपादन करने वाले वचन को उदाहरण कहते हैं। जैसे—'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा—महानसः (जो जो धूमवाला है वह वह आगवाला है, जैसे—रसोईघर)।

(४) **उपनय**—व्याप्तिविशिष्टहतोः पक्षधर्मताप्रतिपादकं वचनमुपनयः = व्याप्ति की विशेषता से विशिष्ट धूमादि हेतु का पर्वतादि पक्ष में रहने का प्रतिपादक वचन उपनय है। जैसे—'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' (आग से व्याप्य धूमवाला यह पर्वत है)।

(५) **निगमन**—हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम् = हेतु की साध्यवत्ता के साथ पक्षप्रतिपादक वचन निगमन है। जैसे—'तस्माद्वह्निमान् पर्वतः' (अतः पर्वत आग वाला है)।

इन पाँचों अवयवों के क्रमशः प्रयोजन हैं—(१) पक्षज्ञान, (२) लिङ्गज्ञान, (३) व्याप्तिज्ञान, (४) पक्षधर्मताज्ञान और (५) अबाधितत्वादि।

दर्शन शास्त्र में सभी लोग इन पाँच अवयवों को नहीं मानते हैं। जैसे—मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन को ही मानते हैं। पाश्चात्य दर्शन में भी तीन ही अवयव माने जाते हैं, परन्तु अवयवों के क्रम एवं नामादि के विषय में मीमांसकों से मतभेद है। कुछ लोग दो ही अवयव मानते हैं। कुछ दस अवयवों की भी कल्पना करते हैं।

उदाहरण दो प्रकार से संभव है—विधिपरक और निषेधपरक। विधिपरक को अन्वयी और निषेधपरक को व्यतिरेकी कहते हैं। ऊपर दिया गया उदाहरण विधिपरक (अन्वयी) है। निषेधपरक (व्यतिरेकी) उदाहरण उसी अनुमान में होगा—'यत्र यत्र अग्न्याभावः तत्र तत्र धूमाभावः, यथा जलह्रदः' जहाँ जहाँ आग का अभाव है वहाँ वहाँ धूम का अभाव है जैसे—तालाब।

[स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योः किं करणम् ?] स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

अनुवाद—[स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति का करण क्या है ?] स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति में लिङ्गपरामर्श ही करण है। अतएव लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है।

व्याख्या—'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' अथवा 'वह्निव्याप्यो धूमः पर्वते' ऐसा लिङ्गपरामर्शात्मक ज्ञान ही दोनों प्रकार की अनुमितियों का करण है। अतएव लिङ्गपरामर्श ही अनुमान प्रमाण है। यह लिङ्गपरामर्श तृतीय कोटि का ज्ञान है—(१) रसोईघर आदि में धूम और आग की व्याप्ति को ग्रहण करने पर जो धूमज्ञान होता है वह प्रथम ज्ञान है। (२) पक्ष (पर्वतादि) में जो धूमज्ञान होता है वह द्वितीय ज्ञान है। (३) पक्ष (पर्वत आदि) में ही वह्नि की व्याप्ति के आश्रयत्वेन जो धूमज्ञान है वह तृतीयज्ञान (लिङ्गपरामर्श) है।

प्रश्न—व्याप्तिज्ञान तथा पक्ष-धर्मताज्ञान से ही जब अनुमति संभव है तो फिर लिङ्ग-परामर्श को पृथक् क्यों माना गया है ? परामर्श तो व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान का ही समुच्चय है।

उत्तर—दीपिका टीका में कहा गया है कि लाघव की दृष्टि से व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान इन दो को कारण मानने की अपेक्षा एक परामर्श को ही कारण मानना अधिक उचित है। किञ्च, 'वह्निव्याप्यधूमवानयम्' इस शाब्दपरामर्श के स्थल में विशिष्टपरामर्श की आवश्यकता होती ही है। अतएव परामर्श को मानना आवश्यक होने से उसे ही करण मानना चाहिए।

प्रश्न—'ज्ञायमान लिङ्ग' को करण मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—ऐसा मानने पर केवल वर्तमानकालिक लिङ्ग से ही अनुमिति होगी, अतीतादिकालिक लिङ्ग से नहीं, जबकि अतीतादिलिङ्ग से भी अनुमिति देखी जाती है। जैसे—'इयं यज्ञशाला वह्निमती, अतीतधूमात्' (यह यज्ञशाला आगवाली है, अतीतकालीन धूम होने से)। 'ज्ञायमान' शब्द 'ज्ञा' धातु से वर्तमान काल में लट् के स्थान में 'शानच्' प्रत्यय से बना है। अतः लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान है।

[लिङ्गं कतिविधम् ?] लिङ्गं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। [अन्वयव्यतिरेकिणः किं लक्षणम् ?] अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा ह्रद इति व्यतिरेकव्याप्तिः। [केवलान्वयिनः किं लक्षणम् ?] अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। [केवलव्यतिरेकिणः किं लक्षणम् ?] व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्। न चेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

अनुवाद—[लिङ्ग कितने प्रकार का है ?] लिङ्ग तीन प्रकार का है—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। [अन्वयव्यतिरेकि लिङ्ग का क्या स्वरूप है ?] जिस लिङ्ग में अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियाँ हों उसे अन्वयव्यतिरेकि कहते हैं। जैसे—आग के साध्य होने पर 'धूमवत्त्व'। 'जहाँ धूम है वहाँ आग है, जैसे रसोईघर' यह अन्वयव्याप्ति है। 'जहाँ आग नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे सरोवर' यह व्यतिरेकव्याप्ति है। [केवलान्वयि लिङ्ग का क्या स्वरूप है ?] जिसमें केवल अन्वयव्याप्ति हो उसे केवलान्वयि कहते हैं। जैसे—घड़ा अभिधेय (वाच्य) है क्योंकि वह प्रमेय है, यथा पट। यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है क्योंकि सभी विषय प्रमेय एवं अभिधेय हैं। [केवलव्यतिरेकि लिङ्ग का क्या स्वरूप है ?] जिसमें केवल व्यतिरेकव्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि है। जैसे—पृथिवी अन्य से भिन्न है, क्योंकि गन्धवती है; जो इतर से भिन्न नहीं है वह गन्धवाला नहीं है, यथा जल। यह वैसी (जल के समान) नहीं है। अतः वैसी (गन्धहीन) नहीं है। यहाँ 'जो गन्धवाला है वह इतर से भिन्न है' ऐसा अन्वयदृष्टान्त नहीं है क्योंकि पृथिवीमात्र पक्ष है।

व्याख्या—लिङ्ग (अनुमापकहेतु) तीन प्रकार के हैं—अन्वयव्यतिरिकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। इन्हें ही क्रमशः विधि-निषेधपरक, विधिपरक एवं निषेधपरक भी कह सकते हैं। तीनों के स्वरूप निम्न हैं—

(१) **अन्वयव्यतिरेकि**—वह हेतु अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है जिसमें साध्य के साथ अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों हों। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' अर्थात् पर्वत आग वाला है, धूमवाला होने से' इस प्रसिद्ध स्थल में 'धूमवत्त्व' हेतु अन्वयव्यतिरेकि है क्योंकि इसकी साध्य के साथ दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ संभव हैं। जैसे—'जहाँ धूम है वहाँ आग है, जैसे रसोईघर' यह अन्वयव्याप्ति है। इसमें हेतु के रहने पर साध्य का सद्भाव सिद्ध किया जाता है। यहाँ हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। जैसे—देवदत्तः मर्त्यः, मनुष्यत्वात्, यो यो मनुष्यः सः स मर्त्यः, यथा यज्ञदत्तः, यत्र यत्र मर्त्याभावः तत्र तत्र मनुष्यत्वाभावः, यथा ईश्वरः।

(२) **केवलान्वयि**—जिस हेतु में साध्य के साथ व्यतिरेकव्याप्ति नहीं पाई जाती, केवल अन्वयव्याप्ति होती है, वह हेतु केवलान्वयि कहलाता है। जैसे—'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, पटवत्' अर्थात् घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे पट। यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु केवलान्वयि है क्योंकि 'जहाँ जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ वहाँ अभिधेयत्व भी है, जैसे-पट' यह अन्वयव्याप्ति तो बन जाती है परन्तु जहाँ जहाँ अभिधेयत्वाभाव है वहाँ वहाँ प्रमेयत्वाभाव है' यह व्यतिरेकव्याप्ति नहीं बन पाती क्योंकि प्रमेयत्व और अभिधेयत्व सभी पदार्थों में है और उसका अभाव कहीं नहीं है, फलस्वरूप व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है। अतः इस 'प्रमेयत्व' हेतु को केवलान्वयि कहेंगे। दीपिका टीका में 'केवलान्वयिसाधकं लिङ्गं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्' कहा है, अर्थात् जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयि लिङ्ग कहलाता है, किञ्च केवलान्वयि साध्य वही होता है जिसका अत्यन्ताभाव कहीं भी न मिले। प्रस्तुत प्रमेयत्व हेतु का साध्य जो 'अभिधेयत्व' है उसका अत्यन्ताभाव कहीं नहीं है, अतः प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयि है। वस्तुत्व, वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदि (गगनाभाव आदि) भी केवलान्वयि हेतु हैं।

(३) **केवलव्यतिरेकि**—केवल व्यतिरेकव्याप्ति वाले लिङ्ग को केवलव्यतिरेकि कहते हैं। यहाँ अन्वयव्याप्ति संभव नहीं है। जैसे—'पृथिवी इतरभेदवती, गन्धवत्त्वात्' (पृथिवी पृथिवीतर=जलादि इतर द्रव्यों से भिन्न है, गन्धवती होने से) यहाँ अन्वयव्याप्ति का स्वरूप होगा 'यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र तत्र पृथिवीतरभेदः' (जहाँ जहाँ गन्धवत्त्व है वहाँ वहाँ पृथिवीतर भेद है)। यह अन्वयव्याप्ति

नहीं बन सकती है क्योंकि गन्धवान् सभी पदार्थ पृथिवीत्व में ही आ गये हैं। घटादि को दृष्टान्त बनाया नहीं जा सकता है क्योंकि वह भी पृथिवी होने के कारण पक्ष ही है। जहाँ पृथिवीतरत्व और गन्धाभाव है ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। जैसे 'यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्' (जो पृथिवीतर जलादि पदार्थों से भिन्न नहीं है वह गन्धवान् नहीं है, यथा जल)। इस तरह यहाँ व्यतिरेक-व्याप्ति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। अतः यहाँ गन्धवत्त्व हेतु केवल-व्यतिरेकि है। अन्य उदाहरण (१) 'जीवच्छरीरं सात्मकं, प्राणादि-मत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः' (जीवित शरीर आत्मा वाला है, प्राणादि से युक्त होने के कारण, जो प्राणादि से युक्त नहीं है वह आत्मावाला नहीं है, जैसे घट)। (२) 'प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रत्यक्षाभासः'। (३) 'विवादास्पदम् आकाश इति व्यवहर्तव्यं शब्दवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी'। केवलव्यतिरेकि हेतु में मीमांसकों के अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव हो जाता है।

हेतु का अन्य प्रकार से भी विभाजन मिलता है, जैसे—साधर्म्य हेतु और वैधर्म्य हेतु। सद्हेतु के पांच गुण बतलाये गये हैं—(१) **पक्षधर्मत्व**—पक्ष में रहना, (२) **सपक्षत्व**—सपक्ष में रहना, (३) **विपक्षव्यावृत्ति**—विपक्ष में न रहना, (४) **अबाधितविषयत्व**—अन्य बलवत्तर प्रमाण से खण्डित न होना और (५) **असत्प्रति-पक्षत्व**—कोई ऐसा कारण न हो जिससे साध्य का अभाव सिद्ध हो जाए। ये ५ लक्षण अन्वयव्यतिरेकि हेतु में आवश्यक हैं। केवला-न्वयि में तृतीय और केवलव्यतिरेकि में द्वितीय के होने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वहाँ क्रमशः विपक्ष और सपक्ष होते ही नहीं हैं।

[पक्षस्य किं लक्षणम् ?] संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः। [सपक्षस्य किं लक्षणम् ?] निश्चित-साध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्। [विपक्षस्य किं

लक्षणम् ?] निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।

अनुवाद—[पक्ष का क्या लक्षण है] जहाँ साध्य का सन्देह हो वह पक्ष है। जैसे धूमवत्त्व हेतु में पर्वत। [सपक्ष का क्या लक्षण है ?] जहाँ साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष है। जैसे वहीं पर (धूमवत्त्व हेतु में) महानस (रसोईघर)। [विपक्ष का क्या लक्षण है ?] जहाँ साध्य का अभाव निश्चित हो। जैसे वहीं पर (धूमवत्त्व हेतु में) जलाशय।

व्याख्या—सद् हेतु में जिन ५ गुणों का होना आवश्यक बतलाया गया है उनमें से प्रथम तीन हैं—पक्ष सत्त्व, सपक्ष सत्त्व और विपक्ष-व्यावृतत्व। अतः प्रश्न है कि पक्षादि किसे कहते हैं ?

पक्ष—जिसमें साध्य के मौजूद रहने का संदेह हो वह पक्ष कहलाता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमिति-स्थल में पर्वत पक्ष है क्योंकि वहीं पर 'पर्वत आग वाला है या नहीं है' यह संदेह होता है। इस लक्षण के विरोध में कहा जाता है कि मानो कोई व्यक्ति सो रहा है, अचानक बादलों की गड़गड़ाहट सुन-कर 'गगनं मेघवत् घनगर्जनश्रवणात्' (आकाश मेघ वाला है क्योंकि मेघ का शब्द सुनाई पड़ रहा है) यह अनुमिति होती है। यहाँ सोये हुए व्यक्ति के लिए संदेह का प्रश्न नहीं है। अतः न्यायबोधिनीकार ने 'अनुमित्युद्देश्यत्वं पक्षत्वम्' (जो अनुमिति में उद्देश्य हो अर्थात् जिस धर्मी में अनुमिति की जाए) लक्षण किया है। दीपिका में भी इसी प्रकार की आशङ्का उपस्थित की गई है जिसका तात्पर्य है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतिवाक्य (वेद वाक्य) के श्रवण से ही सन्देहरहित आत्मा का ज्ञान हो जाने पर भी उसके विषय में अनुमानादि करते हैं तथा अन्यत्र भी वह्नि आदि के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी अनुमान करते हैं

सपक्ष—जहाँ हमें पहले से ही साध्य का निश्चय रहता है। जैसे उक्त अनुमिति स्थल में ही सपक्ष है 'रसोईघर'। इस तरह

सपक्ष अन्वयव्याप्ति का दृष्टान्त होता है। अतः हेतु को पक्ष में रहना चाहिए।

विपक्ष—जहाँ हमें साध्य के अभाव का निश्चय पहले से ही रहता है। जैसे उक्त अनुमितिस्थल में विपक्ष है 'जलाशय'। व्यतिरेक-व्याप्ति का दृष्टान्त विपक्ष ही होता है। अतः हेतु को विपक्ष में न रहने वाला होना चाहिए।

[हेत्वाभासाः कतिविधाः ?] सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।

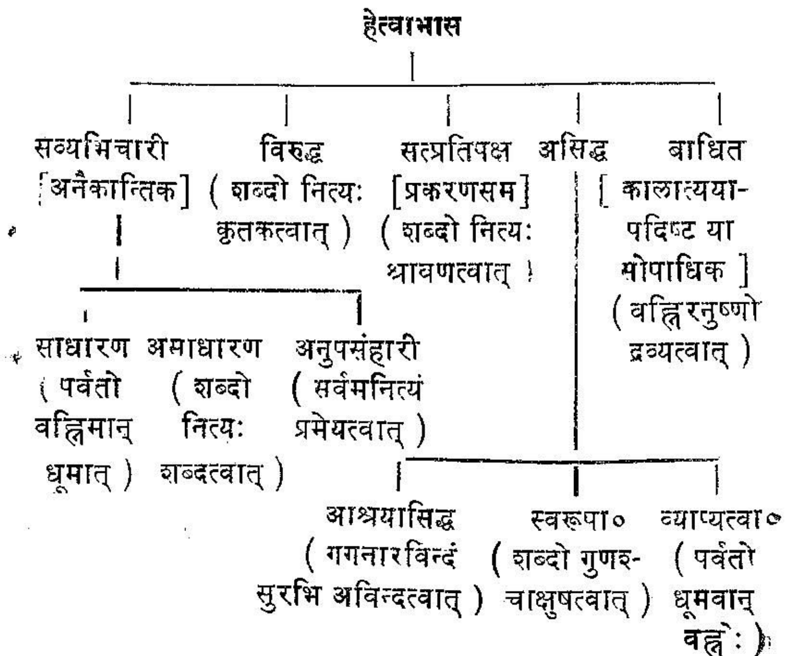
अनुवाद—[हेत्वाभास कितने प्रकार के हैं ?] हेत्वाभास पाँच हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

व्याख्या—'हेतुवदाभासते हेत्वाभासः' जो सद् हेतु तो न हो परन्तु हेतु की तरह लगे ऐसे दोषयुक्त हेतु को हेत्वाभास कहते हैं।

दीपिका में हेत्वाभास का लक्षण दिया है 'अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्' (अनुमिति के प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान के विषय होने को हेत्वाभास कहते हैं)। इसे ही न्यायबोधिनी तथा पदकृत्य में शिष्यशिक्षार्थ 'अनुमितितत्करणाऽन्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्' (अनुमिति अथवा उसके करण परामर्श में से किसी एक के प्रतिबन्धक यथार्थज्ञान का विषय होना)।

इस तरह जिसके ज्ञान से अनुमति अथवा परामर्श रुक जाए वही है हेत्वाभास दोष। यह नियम है कि किसी वस्तु के ज्ञान के प्रति वहाँ उस वस्तु के अभाव का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। जैसे—'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' (जलाशय आगवाला है, धूम होने से) में 'जलाशय आग के अभाव वाला है' इस प्रकार का ज्ञान 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमति के प्रति प्रतिबन्धक है। इस तरह यहाँ प्रत्यक्षबाध नामक दोष है। सव्यभिचार नामक दोष अनुमिति का साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं है अपितु अनुमिति के करण परामर्श का प्रतिबन्धक है। जैसे धूमवान् वह्नेः' में वह्नि हेतु 'धूमाभाव के अधिकरण तप्त लौहपिण्ड में रहता है' ऐसा व्यभिचारज्ञान व्याप्ति-

ज्ञान तथा तदुत्तरवर्ती लिङ्गपरामर्श को रोक रहा है। अन्वयव्यतिरेकि सद्हेतु पक्षधर्मत्व आदि पाँच रूपों से युक्त होकर ही साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है। अतः यदि इनमें से किसी एक की कमी होती है तो सामान्यतः पाँच हेत्वाभास होते हैं। जैसे—पक्षसत्त्व के अभाव में आश्रयसिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होंगे। सपक्षसत्त्व के अभाव में असाधारण सव्यभिचार और अनुपसंहारी सव्यभिचार हेत्वाभास होंगे। विपक्षासत्त्व होने पर व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध और साधारण सव्यभिचार हेत्वाभास होंगे। प्रत्यक्षादि किसी बलवत्तर प्रमाण से खण्डित होने पर बाधित हेत्वाभास होगा। समान बलवान् हेत्वन्तर के रहने पर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होता है। उदाहरण-सहित हेत्वाभासों के अवान्तर प्रकार निम्न हैं—



किसी एक हेतु में एक से लेकर पाँचों दोष भी हो सकते हैं। जैसे 'वायुर्गन्धवान् स्नेहात्' (वायु में गन्ध है, स्नेह गुण होने से), यहाँ पाँचों दोष हैं। 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' (सरोवर आगवाला है, धूम होने से), यहाँ सत्प्रतिपक्ष, स्वरूपासिद्ध और बाधित ये तीन दोष हैं। इसी प्रकार 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' (पर्वत धूम वाला है, आग होने से) में साधारण सव्यभिचार और व्याप्यत्वासिद्ध ये दो दोष हैं। आगे के विवेचन से यह सब स्पष्ट हो जायेगा। एक साथ एक हेतु में एकाधिक दोषों के रहने के कारण सव्यभिचार आदि ५ भेद हेतु के दोष हैं, न कि दुष्ट हेतु के पाँच प्रकार हैं। वैशेषिक मूलतः तीन हेत्वाभास मानते हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध। ये सत्प्रतिपक्ष और बाधित को आश्रयासिद्ध और सव्यभिचार के अन्तर्गत मानते हैं।

[सव्यभिचारस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः ?] सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः—साधारणाऽसाधारणानुपसंहारिभेदात्। [साधारणस्य किं लक्षणम् ?] तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति। अत्र प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। [असाधारणस्य किं लक्षणम् ?] सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति। [अनुपसंहारिणः किं लक्षणम् ?] अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

अनुवाद—[सव्यभिचार का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है ?] सव्यभिचार अनैकान्तिक (सव्यभिचार को अनैकान्तिक

भी कहते हैं) है। साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी के भेद से वह तीन प्रकार का है। इनमें (सव्यभिचार हेत्वाभास के तीन भेदों में) जो साध्याभाव के अधिकरण में रहने वाला है वह साधारण अनैकान्तिक है। जैसे 'पर्वत आग वाला है, प्रमेय (ज्ञेय) होने से' यहाँ प्रमेयत्व हेतु आग के अभाववाले अधिकरण सरोवर में रहने से साधारण अनैकान्तिक है। [असाधारण का क्या लक्षण है ?] जो सभी सपक्षों तथा विपक्षों में न रहकर केवल पक्ष में रहे उसे असाधारण कहते हैं। जैसे—'शब्द नित्य है, शब्दत्व होने से'। यहाँ शब्दत्व सभी सपक्ष नित्यों (आकाशादि) और विपक्ष अनित्यों (घटादि) में न रहकर केवल पक्ष शब्द में रहता है। [अनुपसंहारी का क्या लक्षण है ?] अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित अनुपसंहारी है। जैसे—'सब अनित्य है प्रमेयत्व होने से'। यहाँ सब पदार्थों के पक्ष होने से दृष्टान्तस्थल ही नहीं है।

व्याख्या—सव्यभिचार को अनैकान्तिक भी कहते हैं। कणाद ने इसे संदिग्ध कहा है क्योंकि इस हेतु से साध्य की सिद्धि और साध्याभाव की सिद्धि दोनों होती हैं। 'साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहार्यन्यतमत्वं सव्यभिचारत्वम्' (साधारण, असाधारण एवं अनुपसंहारी में अन्यतमत्व सव्यभिचार है) ऐसा भी लक्षण किया जाता है। इस हेत्वाभास के तीन भेद किए गये हैं—

(१) **साधारण अनैकान्तिक**—अन्नम्भट्ट ने इसका लक्षण बतलाया है—'साध्य के अभाववाले अधिकरण में रहने वाला' (साध्याभाववद्वृत्तिः)। परन्तु इसका तात्पर्य है साध्य के अधिकरणों और साध्याभाव के अधिकरणों में समान रूप से रहने वाला। अतएव इसे पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहने वाला कहा जाता है। साधारण का अर्थ ही है जो सभी स्थलों में रहे। 'साध्याभाव वाले अधिकरण में भी रहना' यही इसका मुख्य निर्णायक तत्त्व है क्योंकि पक्ष और सपक्षवृत्तिता तो सद्हेतु में भी आवश्यक है। जैसे—'पर्वतो

वह्निमान् प्रमेयत्वात्' (पर्वत आग वाला है, क्योंकि प्रमेय है)। यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष पर्वत, सपक्ष रसोईघर आदि तथा विपक्ष सरोवर आदि में रहने से साधारण अनैकान्तिक है। ऐसा हेतु विपक्ष में भी रहने से अतिव्याप्ति दोष का जनक होता है। अन्य उदाहरण— 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्'। विरुद्ध में अतिव्याप्ति-वारणार्थ अन्नम्भट्ट के लक्षण में 'सपक्षवृत्तित्व' तथा स्वरूपासिद्ध में अतिव्याप्ति-वारणार्थ 'पक्षवृत्तित्व' जोड़ना होगा। इस तरह पूरा लक्षण होगा—'पक्षसपक्षवृत्तित्वविशिष्टसाध्याभाववद्वृत्तित्वं साधारणत्वम्'।

(२) **असाधारण अनैकान्तिक**—सपक्ष और विपक्ष में न रहते हुए जो केवल पक्ष में रहे वह असाधारण है। पक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना यह तो सद्हेतु के लिए आवश्यक है परन्तु सपक्ष में न रहना इसका मुख्य दोषाधायक तत्त्व है। अतः ऐसा हेतु सभी लक्ष्य स्थलों में न रहने से अव्याप्ति दोष का जनक होता है। केवलव्यतिरेकि हेतु में सपक्ष होता ही नहीं है, अतः उसके वहाँ रहने और न रहने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। इस तरह असाधारण का अर्थ है 'पक्ष के अतिरिक्त स्थलों में कहीं न रहना'। जैसे – 'शब्दो' नित्यः शब्दत्वात्' (शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें शब्दत्व) है। यहाँ शब्दत्व हेतु केवल पक्ष शब्द में ही रहता है, यह न तो सपक्षभूत आत्मादि नित्य द्रव्यों में रहता है और न विपक्षभूत घटादि अनित्य द्रव्यों में रहता है। अन्य उदाहरण–'पृथिवी नित्या गन्धवत्त्वात् पृथिवीत्वाद्वा। जलं नित्यं जलत्वात्' आदि। केवलव्यतिरेकि में लक्षण की अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'तद्भिन्नत्व' कहा जाता है 'केवलव्यतिरेकिभिन्नत्वे सति सर्वसपक्षविपक्षव्यावृतत्वे च सति पक्षमात्रवृत्तित्वम् असाधारणत्वम्'।

(३) **अनुपसंहारी अनैकान्तिक**—जिसका न तो अन्वयव्याप्तिग्राहक (सपक्ष) दृष्टान्त मिले और न व्यतिरेकव्याप्तिग्राहक (विपक्ष) दृष्टान्त मिले 'अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी'। इस तरह के स्थल में पक्ष में सभी पदार्थ आ जाते हैं जिससे सपक्ष

और विपक्ष बचता ही नहीं है। जैसे—'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्' (सभी अनित्य हैं क्योंकि प्रमेय हैं)। यहाँ 'सर्वम्' में सभी पदार्थ पक्ष बन गये हैं। लक्षण में केवलान्वयि में अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'अन्वय' पद दिया है तथा केवलव्यतिरेकि में अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'व्यतिरेक' पद दिया गया है।

[विरुद्धस्य किं लक्षणम् ?] साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। अत्र कृतकत्वं हि नित्यत्वाऽभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्।

अनुवाद—[विरुद्ध का क्या लक्षण है ?] जो हेतु साध्य के अभाव में व्याप्त हो उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे—'शब्द नित्य है, कार्यत्व होने से'। यहाँ कृतकत्व (कार्यत्व) हेतु नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है।

व्याख्या—'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' जो हेतु साध्याभावव्याप्त हो अर्थात् जहाँ हेतु रहे वहाँ साध्य का अभाव भी रहे वही विरुद्ध हेत्वाभास (साध्य विरोधी) है। सत्प्रतिपक्ष में अतिव्याप्ति-वारणार्थ 'सत्प्रतिपक्षभिन्न' पद जोड़ना चाहिए। इस तरह विरुद्ध हेतु से हम जो सिद्ध करना चाहते हैं उससे उल्टा ही सिद्ध हो जाता है, जैसे– शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' (शब्द नित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है)। यहाँ कृतकत्व (जन्यत्व) हेतु से अनित्यता की सिद्धि हो रही है, न कि नित्यत्व की। इस तरह कृतकत्व हेतु साध्य नित्यत्व से विपरीत अनित्यत्व में व्याप्त होने से विरुद्ध है।

अन्तर—(१) विरुद्ध कभी भी सपक्ष में नहीं रहता है जबकि साधारण अनैकान्तिक सपक्ष में भी रहता है। (२) विरुद्ध विपक्ष में रहता है जबकि असाधारण अनैकान्तिक विपक्ष में नहीं रहता है। (३) अनुपसंहारी में व्याप्ति घटित नहीं होती जबकि विरुद्ध में व्याप्तिसाध्याभाव को सिद्ध करने वाली होती है। (४) सत्प्रतिपक्ष

में दूसरे हेतु से साध्याभाव ज्ञात होता है जबकि विरुद्ध में प्रथम हेतु से ही साध्याभाव ज्ञात हो जाता है।

[सत्प्रतिपक्षस्य किं लक्षणम् ?] यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा—शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवत्।

अनुवाद—[सत्प्रतिपक्ष का क्या लक्षण है ?] जिसके साध्याभाव का साधक दूसरा हेतु विद्यमान हो वह सत्प्रतिपक्ष है। जैसे—शब्द नित्य है श्रावणत्व होने के कारण, शब्दत्व के समान। [साध्याभाव का साधक हेत्वन्तर होगा] शब्द अनित्य है कार्य होने के कारण, घट के समान।

व्याख्या—'यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः' जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु हो वह सत्प्रतिपक्ष है। इसमें एक हेतु साध्य की सिद्धि करता है तो दूसरा साध्यभाव की। दोनों हेतु एक समान बल वाले होते हैं जिससे निर्णय नहीं हो पाता है, इसीलिए दोनों ही सत्प्रतिपक्ष हेतु कहे जाते हैं। इसे गौतम ने प्रकरणसम (निर्णय समान) कहा है। सत्प्रतिपक्ष शब्द का भी अर्थ है जिसका प्रतिपक्षी (विरोधी) मौजूद हो। जैसे—'शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्' (शब्द नित्य है क्योंकि उसमें श्रावणत्व है, जैसे शब्दत्व)। यहाँ इसका तुल्य बलवान् हेतु है 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवत्' (शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें कार्यत्व है, जैसे घट)। सत्प्रतिपक्ष शब्द दोषवाची भी है और दुष्टवाची भी। जैसे—'सन् प्रतिपक्षः सत्प्रतिपक्षः' यह विग्रह दोषवाची है तथा 'सन् प्रतिपक्षो यस्य स सत्प्रतिपक्षः' यह विग्रह दुष्टवाची है।

अन्तर—(१) विरुद्ध में जो हेतु साध्य के साधक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है वही साध्याभाव को सिद्ध करता है जबकि सत्प्रतिपक्ष में दूसरा हेतु साध्याभाव का साधक होता है। (२)

बाधित में बलवत्तर प्रमाण (प्रत्यक्ष और श्रुति प्रमाण बलवत्तर हैं) से साध्याभाव सिद्ध किया जाता है जबकि सत्प्रतिपक्ष में समान बल वाले (अनुमानान्तर) से साध्याभाव सिद्ध किया जाता है। बाधित में निर्णय होता है सत्प्रतिपक्ष में नहीं होता है। जैसे कोई कहे 'आग शीतल है' यहाँ प्रत्यक्ष बाधा से अग्नि में शीतलाभाव की सिद्धि हो रही है।

[असिद्धः कतिविधः ?] असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धः व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। [आश्रयासिद्धस्य किं लक्षणम् ?] आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव। [स्वरूपासिद्धस्य किं रूपम् ?] स्वरूपासिद्धो यथा—शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्। [व्याप्यत्वासिद्धः कः किञ्चोपाधिस्वरूपम् ?] सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वम्। साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वादित्यत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथाहि—यत्र धूमस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकत्वम्। यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाऽभावादिति साधनाऽव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वाऽसिद्धम्।

अनुवाद—[असिद्ध कितने प्रकार का है ?] असिद्ध तीन प्रकार का है–आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध । [आश्रयासिद्ध का क्या लक्षण है ?] आश्रयासिद्ध, जैसे—'आकाश-कमल सुगन्धित है कमल होने से सरोवर के कमल के समान ।' यहाँ आकाश-कमल आश्रय (पक्ष) है और वह है ही नहीं । [स्वरूपासिद्ध का क्या लक्षण है ?] स्वरूपासिद्ध, जैसे—'शब्द गुण है, चाक्षुष होने के कारण ।' यहाँ शब्द में चाक्षुषत्व नहीं है क्योंकि शब्द कानों से ग्राह्य है । [व्याप्यत्वासिद्ध क्या है और उपाधि का क्या स्वरूप है ?] उपाधि से युक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। जो साध्य का व्यापक होकर साधन (हेतु) का अव्यापक हो वह उपाधि है । साध्यव्यापकत्व का अर्थ है 'साध्य के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो । साधनाव्यापकत्व का अर्थ है 'जो हेतु के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो ।' जैसे—'पर्वत धूम वाला है, आगवाला होने से' यहाँ 'आर्द्र (गीला)-इन्धनसंयोग' उपाधि है। जैसे—'जहाँ धूम है वहाँ आर्द्रेन्धन-संयोग है' यह साध्यव्यापकत्व है । 'जहाँ आग है वहाँ आर्देन्धनसंयोग नहीं है क्योंकि (अयोगोलक आग से लाल हुए गर्म लोहे) में आर्द्रेन्धन-संयोग का अभाव है' यह साधन-अव्यापकत्व है । इस प्रकार साध्य-व्यापक होकर साधन-अव्यापक होने से 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। सोपाधिक होने से 'वह्निमत्त्व' व्याप्यत्वासिद्ध है ।

व्याख्या—असिद्ध को 'साध्यसम' भी कहा जाता है क्योंकि यहाँ हेतु साध्य के समान संदिग्ध होता है । असिद्ध का सामान्य अर्थ है 'साध्यव्याप्य हेतु का पक्ष में न रहना' । इसका लक्षण मूल में नहीं दिया है । टीका में इसका लक्षण दिया गया है 'आश्रयासिद्धाद्यन्यतमत्वम्' (आश्रयासिद्ध आदि तीन में से कोई एक) । असिद्ध के तीन भेद हैं—आश्रयासिद्ध (पक्ष में दोष), स्वरूपासिद्ध (हेतु में दोष) और व्याप्यत्वासिद्ध (व्याप्ति में दोष) ।

(१) **आश्रयासिद्ध**—'पक्षतावच्छेदकविशिष्टपक्षाप्रसिद्धिः' या पक्षतावच्छेदकाऽभाववत्पक्षकत्वम्' अर्थात् पक्षतावच्छेदक = पक्षत्व से विशिष्ट पक्ष का अप्रसिद्ध होना या पक्षतावच्छेक = पक्षत्व के अभाव वाला पक्ष है जिस हेतु का वह आश्रयासिद्ध है । अतः पक्ष में पक्षतावच्छेदक धर्म का न रहना आश्रयासिद्ध है, जैसे—'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्' (आकाश कमल सुगन्धित है क्योंकि कमल है), यहाँ पक्ष है 'गगनारविन्द' तथा पक्षतावच्छेदक है 'गगनीयत्व' । यह गगनीयत्व' अरविन्द में नहीं है क्योंकि आकाश में कमल नहीं खिलता है । इस तरह पक्ष (आश्रय) के असिद्ध होने से अथवा पक्ष में पक्षतावच्छेदक धर्म गगनीयत्व का अभाव होने से 'अरविन्दत्व हेतु आश्रयासिद्ध है । इस उदाहरण में अरविन्द और गगन दोनों पृथक्-पृथक् तो प्रसिद्ध हैं, परन्तु गगनीयत्व से विशिष्ट अरविन्द प्रसिद्ध नहीं है ।

(२) **स्वरूपासिद्ध**—पक्ष में हेतु का न रहना ही स्वरूपासिद्ध है 'पक्षे हेत्वभावः' । जैसे—'शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्' (शब्द गुण है क्योंकि चाक्षुष है) । यहाँ चाक्षुषत्व स्वरूपासिद्ध हेतु है क्योंकि शब्द कान से सुना जाता है, न कि आँख से देखा जाता है । इस तरह चाक्षुषत्व हेतु पक्ष शब्द में नहीं रहता है अर्थात् हेतु में पक्षधर्मता नहीं है । आश्रयासिद्ध में पक्ष ही असिद्ध रहता है जबकि स्वरूपासिद्ध में पक्ष असिद्ध नहीं होता अपितु पक्ष में हेतु का सद्भाव असिद्ध होता है । अतः दोनों में अन्तर है । स्वरूपासिद्ध के चार भेद किए जाते हैं, जैसे—(१) शुद्धाऽसिद्ध (जैसे—शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात्), (२) भागाऽसिद्ध (पक्ष के एक देश में न रहना, जैसे—'उद्भूतरूपादिचतुष्टयं गुणः, रूपत्वात्), (३) विशेषणाऽसिद्ध (वायुः प्रत्यक्षः, रूपवत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्) और (४) विशेष्यासिद्ध (वायुः प्रत्यक्षः, स्पर्शवत्वे सति रूपवत्वात्) ।

(३) **व्याप्यत्वासिद्ध**—उपाधियुक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं 'सोपाधिको हेतुः' । जैसे—'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्' पर्वत धूम

वाला है क्योंकि आगवाला है। यहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है क्योंकि धूम वहीं होता है जहाँ गीले इन्धन का संयोग हो। अयोगोलक आदि में आग तो रहती है परन्तु धूम नहीं रहता है क्योंकि वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। अतः यह वह्निमत्त्व हेतु उपाधियुक्त होने से व्याप्यत्वासिद्ध है।

प्रश्न—उपाधि किसे कहते हैं ?

उत्तर—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यपकत्वमुपाधिः' जो साध्य का व्यापक और हेतु का अव्यापक होता है वह उपाधि है। साध्य का व्यापक वह है—जिसका अभाव साध्य के अधिकरण में नहीं मिलता। साधन (हेतु) का अव्यापक वह है जिसका अभाव साधन (हेतु) के अधिकरण में पाया जाता है। इसे ही पारिभाषिक शब्दावलि में कहा जाता है—साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्', जैसे—'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' (पर्वत धूमवाला है क्योंकि आग है)। यहाँ साध्य है 'धूम' और उसका अधिकरण (आश्रय) है पर्वत, उसमें (पर्वत में) घटाभाव है, घटाभाव का प्रतियोगि है 'घट' और अप्रतियोगि है 'आर्द्रेन्धन-संयोग'। यही है उपाधि का साध्यव्यापकत्व। इसी प्रकार यहाँ साधन (हेतु) है 'आग' उसका अधिकरण है 'अयोगोलक' (संतप्त लौहपिण्ड), उसमें (अयोगोलक में) रहने वाला अभाव है 'अर्द्रेन्धनसंयोगाभाव' और उस अभाव का प्रतियोगी है 'आर्द्रेन्धनसंयोग'। यही है उपाधि का साधनाव्यापकत्व। इस प्रकार जहाँ धूम है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग है, अतः आद्रन्धन-संयोग साध्य धूम का व्यापक है। जहाँ साधन आग है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नियत नहीं है, अतः अयोगोलकस्थ आग में आर्द्रेन्धनसंयोग के न रहने से साधनाव्यापकत्व है। इस उपाधि के तीन भेद किए जाते हैं—(१) केवल साध्यव्यापक (जो साध्य के साथ सदा रहती,) है (२) पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक (जो पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है) और (३) साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक (जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती है)। इनके क्रमशः उदाहरण हैं—(१) 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मजनिका, हिंसात्वात्' (यज्ञ के भीतर होने वाली हिंसा अधर्म को पैदा करने वाली है, हिंसात्व होने से) यहाँ 'निषिद्धत्व' उपाधि है। (२) 'वायुः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' (वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से)। यहाँ 'उद्भूतरूपवत्त्व' उपाधि है। (३) 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' (ध्वंस विनाशी है, जन्य होने से)। यहाँ 'भावत्व' उपाधि है। गर्भस्थो मित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वात्' (गर्भस्थ मित्रा का पुत्र काला है, मित्रा का पुत्र होने से)। यहाँ 'शाकपाक-जन्यत्व' उपाधि है। दीपिका टीका में चार प्रकार की उपाधियाँ हैं। चतुर्थ का नाम है—उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक, जैसे—'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्'। यहाँ जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व की 'भावत्व' उपाधि है। जन्यत्व न साधन है और न पक्षधर्म, अपितु एक उदासीन धर्म है।

[बाधितस्य किं लक्षणम् ?] यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण पक्षे निश्चितः स बाधितः। यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यत इति बाधितत्वम्।

अनुवाद—[बाधित का क्या लक्षण है ?] जिसके (जिस हेतु के) साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से पक्ष में निश्चित हो वह (हेतु) बाधित है। जैसे—आग शीतल है, द्रव्यत्व होने के कारण। यहाँ साध्य है शीतलता (अनुष्णत्व) और उसका अभाव जो उष्णत्व है, वह स्पार्शन प्रत्यक्ष से सिद्ध है, अतः (यह द्रव्यत्व हेतु) बाधित है।

व्याख्या—जहाँ अनुमान प्रमाण से भिन्न किसी अन्य बलवत्तर प्रत्यक्षादि प्रमाण से साध्याभाव का निश्चय हो जाये वहाँ बाधित

हेत्वाभास होता है। जैसे—'वह्निरनुष्णः' में आग की अनुष्णता (शीतलता) स्पार्शन प्रत्यक्ष से बाधित है क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से आग की उष्णता ज्ञात है। सत्प्रतिपक्ष में तुल्यबल वाला दूसरा अनुमान प्रस्तुत किया जाता है, यहाँ ऐसा नहीं है। बाधित को कालात्ययापदिष्ट भी कहा जाता है।

प्रश्न—किस हेत्वाभास से क्या प्रतिबन्धित होता है?

उत्तर—दीपिका टीका में बतलाया है कि साध्याभाव का निश्चय कराने के कारण बाधित तथा विरोधी ज्ञान कराने के कारण सत्प्रतिपक्ष अनुमिति में साक्षात् प्रतिबन्धक हैं, शेष परामर्श में। इनमें भी साधारण, विरुद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध व्याप्तिज्ञान में, आश्रयासिद्ध तथाऽस्वरूपासिद्ध पक्षधर्मताज्ञान में प्रतिबन्धक हैं। व्यभिचारज्ञान के द्वारा उपाधि भी व्याप्तिज्ञान में प्रतिबन्धक है।

[अनुमान प्रमाण परिच्छेद समाप्त]

(ग) अथोपमानप्रमाणपरिच्छेदः

[उपमानप्रमाणस्य किं लक्षणम्, उपमितिश्च का ?]

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञा-संज्ञिसंबन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथाहि—कश्चिद् गवयशब्दवाच्य(पदार्थ)-मजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवय' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरं 'असौ (अयम्) गवयशब्दवाच्य' इत्युपमितिरुत्पद्यते।

अनुवाद—[उपमान का क्या लक्षण है तथा उपमिति का क्या स्वरूप है ?] उपमिति के करण को उपमान कहते हैं। संज्ञा और संज्ञी (पद और पदार्थ) के सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति है। उस उपमिति का करण है 'सादृश्यज्ञान'। प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा कहे

हुए वाक्य के अर्थ का स्मरण है 'अवान्तर व्यापार'। जैसे—कोई 'गवय' शब्द के अर्थ को न जानता हुआ किसी वनेचर पुरुष से 'गवय गाय के समान होता है' ऐसा सुनकर वन में गया और वहाँ उस वाक्य के अर्थ का स्मरण करता हुआ गाय के समान किसी [शरीर] पिण्ड को देखता है, पश्चात् 'यह गवय शब्द का वाच्य है' ऐसी उपमिति उत्पन्न होती है।

व्याख्या—'उपमिति' का करण है 'उपमान'। संज्ञा-संज्ञी (पद और पदार्थ) के सम्बन्ध का ज्ञान है 'उपमिति', सादृश्यज्ञान (सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञान) है 'करण', 'अतिदेशवाक्यार्थस्मरण' है 'व्यापार' तथा इसका फल है 'उपमिति'।

उपमिति—'संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः' संज्ञा (पद) और संज्ञी (पदार्थ) के वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध का ज्ञान है उपमिति। यदि 'संज्ञा-संज्ञिज्ञान' को उपमिति कहेंगे तो अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उनसे भी संज्ञा-संज्ञी का ज्ञान होता है। अतः संज्ञासंज्ञि-सम्बन्धज्ञान को उपमिति कहा गया है। यहाँ 'अभिप्रेत गवय गवयपद वाच्य है' ऐसा शक्तिग्रह होने से गवयान्तर में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस उपमिति का करण है सादृश्यज्ञान। जैसे—गवय को न जानने वाला कोई व्यक्ति किसी प्रामाणिक वनवासी से 'गोसदृशो गवयः' (गाय के समान गवय होता है) ऐसा सुनकर वन में जाता है और जब उसे वहाँ गाय के सदृश एक जंगली पशु दिखलाई पड़ता है तो वह वहाँ उस वनवासी के पूर्व में कहे गये वचन (अतिदेशवाक्य—'गोसदृशो गवयः' इस पद का) का स्मरण करता है। पश्चात् उस स्मरण को प्रत्यक्ष गवय से सम्बन्धित करके कहता है 'असौ गवयशब्दवाच्यः' (यह गवय है)। यही उपमिति है। उपमिति के लिए अतिदेशवाक्यार्थ का स्मरण और सदृश पदार्थ का प्रत्यक्ष आवश्यक है।

उपमान—'उपमितिकरणमुपमानम्' उपमिति का करण उपमान है। उपमिति का करण है 'सादृश्यज्ञान' अर्थात् सादृश्यज्ञान ही

उपमान है। अन्नम्भट्ट ने उपमान को प्रमाण मानकर गौतम के मत का अनुसरण किया है। वैशेषिक और सांख्य उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं। जैसे —'अयं पिण्डो गवयपदवाच्यः, गोसादृश्यात्। यत्र यत्र गोसादृश्य तत्र तत्र गवयपदवाच्यत्वम्' परन्तु इसे अनुमान मानना ठीक नहीं है क्योंकि इस ज्ञान के बाद 'उपमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, न कि 'अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय।

उपमान तीन प्रकार का माना जाता है—(१)सादृश्य-विशिष्टपिण्डज्ञान (सादृश्य द्वारा ज्ञान), जैसे—'गोसदृशो गवयः' यहाँ सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञान करण है। (२) वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञान (वैधर्म्य द्वारा ज्ञान), जैसे—ऊँट कैसा होता है? ऐसा पूछने पर 'उष्ट्रो नाश्वादिवत्समानपृष्ठह्रस्वग्रीवशरीरः' (जो घोड़े के समान पीठ वाला नहीं है तथा जिसकी ग्रीवा और शरीर बौना नहीं है वह ऊँट है), इस आप्तवचन से कालान्तर में 'असौ उष्ट्रपदवाच्यः' (यह ऊँट शब्द का अर्थ है) ऐसी उपमिति होती है। इस तरह यहाँ वैधर्म्य-विशिष्टपिण्डज्ञान करण है। (३) असाधारणधर्मविशिष्टपिण्ड-ज्ञान (असाधारण धर्म द्वारा ज्ञान), जैसे—खड्गमृग (गैंड़ा) कैसा होता है? ऐसा पूछने पर 'नासिकालसदेकशृङ्गोऽनतिक्रान्तगजाकृतिश्च' (नाक में एक सींग वाला तथा हाथी के आकार का अतिक्रमण न करने वाला गैंड़ा होता है) इस आप्तवचन से कालान्तर में 'खड्गमृगपदवाच्योऽसौ' (यह गैंड़ा पदवाच्य है) ऐसी उपमिति होती है। इस तरह यहाँ असाधारणधर्म से विशिष्टपिण्डज्ञान करण है।

[उपमान प्रमाण परिच्छेद समाप्त]

(घ) अथ शब्दप्रमाणपरिच्छेदः

[शब्दप्रमाणस्य किं स्वरूपम्?] आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः, यथा गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।

अनुवाद—[शब्दप्रमाण का क्या स्वरूप है?] आप्तपुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। सत्यवक्ता को आप्त कहते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, जैसे —'गाय को लाओ'। जिसमें शक्ति हो उसे पद कहते हैं। 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए' यह जो ईश्वर का संकेत है, वही शक्ति है।

व्याख्या—'आप्तवाक्यं शब्दः' आप्तपुरुष = यथार्थवक्ता के पद-समूहात्मक वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। वञ्चक एवं भ्रान्त वाक्य में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'आप्त' पद दिया है। यदि वक्ता प्रामाणिक है तो उसका वचन भी प्रामाणिक है। आप्त के 'गामानय' (गाय को लाओ) इत्यादि वाक्य से होने वाला ज्ञान शाब्दप्रमा है और शाब्दी प्रमा का जनक आप्तवाक्य ही शब्द प्रमाण है। अतः आगे कहा है 'वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्दः' वाक्यार्थ के ज्ञान को शाब्दज्ञान तथा उसके करण शब्द को शब्द प्रमाण कहते हैं। परन्तु न्यायबोधिनीकार वस्तुतस्तु के द्वारा अपना मत प्रकट करते है—'पदज्ञानं करणम्। वृत्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थिति-र्व्यापारः। वाक्यार्थज्ञानं शाब्दबोधः फलम्। वृत्तिर्नाम शक्तिलक्षणा-न्यतररूपा' (पदज्ञान करण है। वृत्तिज्ञान से सहकृत पदज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति व्यापार है। वाक्यार्थज्ञान शाब्दबोधरूप फल है। वृत्ति का अर्थ है शक्ति और लक्षणा में से कोई एक')। यह विषय गम्भीर है तथा इस सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। विषय को सुबोध बनाने के लिए संक्षेप में यहाँ निर्वचन करेंगे—

प्रश्न—वाक्य किसे कहते है?

उत्तर—पदसमूह को वाक्य कहते हैं। सामान्यतः जिसके अन्त में 'सुप्' या 'तिङ्' विभक्ति जुड़ी हो उसे पद कहते हैं'सुप्तिङन्तं पदम्'।

परन्तु यहाँ 'शक्तं पदम्' (शक्त्याश्रय) कहा है तथा 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए' ऐसी ईश्वरेच्छा या ईश्वरसंकेत को शक्ति बतलाया है (ईश्वरसंकेतो नाम ईश्वरेच्छा, सैवशक्तिरित्यर्थः)। इस तरह न्याय दर्शन में ईश्वरेच्छारूप शक्ति के आश्रय को 'पद' कहा है। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। नवीन नैयायिक इच्छामात्र (चाहे वह ईश्वर की हो या अन्य किसी व्यक्ति की) को शक्ति कहते हैं। दीपिका टीका में अर्थ की स्मृति के अनुकूल पद और पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहा है 'अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः'। मीमांसक शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं और नैयायिक उसे केवल इच्छा। शब्द के प्रति कारण होने वाली पदार्थोपस्थिति जैसे शक्ति-ज्ञान से होती है उसी प्रकार लक्षणाज्ञान से भी होती है। अतः लक्षणा भी एक स्वतन्त्र वृत्ति (शाब्दबोधजनक पदार्थोपस्थापक सम्बन्ध) है। 'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' (शक्यसम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं)। इस तरह अभिधा और लक्षणा ये दो वृत्तियाँ हैं। अलंकार शास्त्रियों द्वारा मान्य व्यञ्जना वृत्ति को नैयायिक स्वीकार नहीं करते हैं। वे शाब्दी व्यञ्जना का लक्षणा (गौणी लक्षणा) में और आर्थी व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं।

मीमांसकों एवं वैयाकरणों के अनुसार वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है और वह क्रिया ही शब्दों के परस्पर सम्बद्ध होने में कारण होती है। क्रिया के अभाव में 'देवदत्तः ग्रामम्' आदि शब्द परस्पर सम्बद्ध नहीं होंगे। इस तरह क्रिया विशेष्य होती है और देवदत्त, ग्राम आदि उसके विशेषण। तदनुसार जब हम कहते हैं 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' तो अर्थ होता है—देवदत्तकर्तृकग्रामकर्मकगमनक्रिया'। 'चैत्रः तण्डुलं पचति' का अर्थ होगा 'चैत्रकर्तृकतण्डुलकर्मकपाकक्रिया'। इस तरह मीमांसकों एवं वैयाकरणों के अनुसार क्रिया के होने पर ही शाब्दबोध होता है। परन्तु नैयायिकों के अनुसार क्रिया का होना आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार वाक्य (पदसमूह) में कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों रहते हैं। क्रिया कर्तृनिष्ठ होती है और वह कर्त्ता

एवं कर्म में सम्बन्ध बतलाती है। अर्थात् केवल क्रियाबोधक पद ही शाब्दबोध नहीं कराते अपितु सभी पद शाब्दबोध कराते हैं (पद-समूहादेव शाब्दबोधो नैकस्मादिति)। इस तरह मीमांसकों की तरह 'पदानामन्वयविशिष्टे शक्तिः' न मानकर 'पदानामन्वय एव शक्तिः' मानते हैं। अतः 'देवदत्तः गच्छति' से गमनशील देवदत्त का बोध होता है। नैयायिकों के अनुसार शक्ति अन्वय में होती है अन्वित पदों में नहीं। जब आकांक्षा, योग्यता आदि से सहित पद वाक्य में अन्वित होते हैं तभी शाब्दबोध कराते हैं। अतः 'पदसमूह' को न्याय-दर्शन में वाक्य कहा गया है।

प्रश्न – 'संकेतरूपा शक्ति' कहाँ रहती है? केवल जाति में, केवल व्यक्ति में, जातिविशिष्टव्यक्ति में अथवा अपोह में?

उत्तर—मीमांसक केवल जाति में, नव्यनैयायिक केवल व्यक्ति में, प्राचीन नैयायिक (अन्नम्भट्ट भी) जातिविशिष्ट व्यक्ति में और बौद्ध अपोह में शक्ति मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि जब हम 'घट' का उच्चारण करते हैं तो 'घट' शब्द से घट का ज्ञान होता है या घटत्व का या घटत्वविशिष्ट घट का या पटादि से भिन्न (अपोह) का। इसका विस्तृत विचार तत्तत् ग्रन्थों से देखना चाहिए।

प्रश्न—शब्द से संकेतित अर्थ का ज्ञान किन साधनों से होता है?

उत्तर—आठ साधनों से होता है—

शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थ—शब्द का अर्थज्ञान आठ साधनों से होता है—१. व्याकरण से, २. उपमान (सादृश्य) से, ३. कोश से, ४. आप्तवाक्य से, ५. वृद्धव्यवहार से, ६. वाक्यशेष (प्रसङ्ग) से, ७. विवृत्ति (व्याख्या) से, और ८. सान्निध्य से। हस्तसंकेतादि से भी अर्थ का ज्ञान होता है। इनमें वृद्धव्यवहार प्रमुख है।

[वाक्यार्थज्ञाने के हेतवः, तेषां लक्षणानि च कानि ?]
आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। तथा च आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणमाकाङ्क्षाविरहात्। वह्निना सिञ्चेदिति न प्रमाणं योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानये-त्यादिपदानि न प्रमाणं, सान्निध्याभावात्।

अनुवाद—[वाक्यार्थज्ञान के हेतु कितने हैं और उनके लक्षण क्या हैं ?] वाक्यार्थज्ञान (शाब्दबोध) में तीन हेतु हैं—आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि। दूसरे पद के प्रयोग के विना जहाँ पद की शाब्दबोधजनकता नहीं होती है, उसे आकांक्षा कहते हैं (पद में पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्त जो अन्वयाननुभावकत्व है वही आकाङ्क्षा है)। अर्थ में बाधा का अभाव (अर्थाबाध) योग्यता है। पदों का अविलम्ब (विलम्ब के विना) उच्चारण सन्निधि है। एवञ्च, आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण है। जैसे—'गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी' यह पदसमूह आकाङ्क्षा से रहित होने के कारण प्रमाण नहीं है। 'आग से सींचिए' यह पदसमूह योग्यता से रहित होने के कारण प्रमाण नहीं है। प्रहर-प्रहर में (एक एक प्रहर के बाद उच्चारण किये गये) एक साथ उच्चारण नहीं किए गये 'गाय—लाओ' इत्यादि पदसमूह सान्निध्य (सामीप्य) से रहित होने के कारण प्रमाण नहीं है।

व्याख्या—वाक्यार्थबोध अथवा शाब्दबोध तभी होता है जब पदसमूह में आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि हो। इनमें से किसी एक का अभाव रहने पर शाब्दबोध नहीं होगा। इस तरह ये तीनों

कारण मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराने में कारण हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। अतः 'हेतुः' में एक वचन का प्रयोग किया गया है। मूल में प्रयुक्त आकाङ्क्षादि का अर्थ है—आकाङ्क्षाज्ञान, योग्यताज्ञान और सन्निधिज्ञान ये शाब्दबोध के प्रति कारण हैं।

(१) **आकाङ्क्षा**—'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभाव-कत्वम्' जिस पद में किसी दूसरे पद के अभावप्रयुक्त जो शाब्दबोध की अजनकता है, वही आकाङ्क्षा है। अर्थात् साकाङ्क्ष पद ही शाब्दबोध कराते हैं, निराकाङ्क्ष नहीं। न्यायबोधिनी के अनुसार 'जिन पदों का यादृश पूर्वापरीभाव न होने के कारण शाब्दबोध न हो उन पदों का तादृश पूर्वापरीभाव है 'आकाङ्क्षा'।' जैसे—'गामनय' इस वाक्य में जो 'गो' पद है उसका शाब्दबोध 'अम्' पद के विना नहीं होता, क्योंकि 'गो आनय' इस वाक्य से अर्थ प्रतीत नहीं होता। अतः 'गामानय' इस वाक्य के अर्थज्ञान (शाब्दबोध) में गोपदोत्तर 'अम्' पद की आकाङ्क्षा हेतु है। 'अम्' प्रत्यय का अर्थ है 'कर्मत्व'। अतः 'गाम्' पद का अर्थ हुआ 'गोकर्मक'। 'अम् गो' ऐसा विपरीत उच्चारण करने पर शाब्दबोध नहीं होगा। इसी प्रकार 'आनय' में 'नी' धातु का अर्थ है 'लाना', और लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन का अर्थ है 'आदेश'। गो, अश्व, पुरुष आदि पदसमूह आकाङ्क्षारहित होने से प्रमाण नहीं है। अतः आकाङ्क्षा-ज्ञान शाब्दबोध के प्रति कारण है।

(२) **योग्यता**—'अर्थाबाधो योग्यता' अर्थ के बाध का अभाव योग्यता है। जैसे—'वह्निना सिञ्चेत्' यहाँ सिञ्चनक्रिया की योग्यता आग में बाधित है, अतः इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता। परन्तु जब हम 'जलेन सिञ्चेत्' कहते हैं तो जल से सिञ्चनक्रिया संभव होने से (बाधाभाव होने से शाब्दबोध हो जाता है।

(३) **सन्निधि**—'पदानामविलम्बेनोच्चारणम्' पदों का विना अन्तराल के उच्चारण सन्निधि है। जैसे—'गाम् आनय'। यदि इन

दो पदों का उच्चारण एक-एक घण्टे के बाद किया जायेगा तो शाब्द-बोध नहीं होगा। यदि एक साथ (शीघ्रता से या प्रथम शब्दश्रवण का संस्कार जितनी देर तक ठहरता है उतने समय के अन्दर) उच्चारण करते हैं तो शाब्दबोध होता है। इस तरह सन्निधि भी शाब्दबोध के प्रति कारण है।

विश्वनाथ ने कारिकावली (८२) में तात्पर्यज्ञान को चतुर्थ कारण माना है—'आसत्तिर्योग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते'। यहाँ 'आसत्ति' का अर्थ है 'सन्निधि'। तात्पर्यज्ञान, जैसे —'सैन्धवमानय' में सैन्धव के दो अर्थ हैं—नमक और घोड़ा। यदि वक्ता भोजन कर रहा है तो वक्ता का 'नमक' के अर्थ में तात्पर्य है, यदि बाहर जा रहा है तो 'घोड़ा' के अर्थ में तात्पर्य है। यह तात्पर्यज्ञान भी वाक्यार्थज्ञान में हेतु है। जो इसे कारण नहीं मानते हैं उनके अनुसार यहाँ योग्यता-ज्ञान कारण है।

[वाक्यं कतिविधम्] वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्।

अनुवाद—[वाक्य कितने प्रकार का है?] वाक्य दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक। वैदिक ईश्वरोक्त होने से सभी प्रमाण है। आप्त व्यक्ति के द्वारा उक्त लौकिक वाक्य प्रमाण है, शेष [मिथ्यावादियों के द्वारा उक्त] अप्रमाण।

व्याख्या—वाक्य दो प्रकार के हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सभी प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य यदि यथार्थ-वक्ता द्वारा कहे गये हैं तो प्रमाण हैं अन्यथा अप्रमाण।

वेदों को मीमांसक अपौरुषेय एवं नित्य मानते हैं परन्तु नैयायिक उन्हें ईश्वर के द्वारा रचित मानते हैं तथा शब्द को अनित्य मानते हैं। आकाश के नित्य होने से उसके गुण को भी नित्य होना चाहिए

यह आवश्यक नहीं है। नैयायिक शब्द की अनित्यता अनुमान से सिद्ध करते हैं—'शब्दोऽनित्यः, सामान्यवत्त्वे सति बहिरिन्द्रियजन्य-लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वात्, लौकिकप्रत्यक्षविशेष्यत्वाद्वा, घटवत्'। वैदिक वाक्यों में श्रुति (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) के साथ स्मृति, इतिहास और पुराण का भी संग्रह किया जाता है।

[शाब्दज्ञानं किम्?] वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं। तत्करणं तु शब्दः।

अनुवाद—[शाब्दज्ञान का स्वरूप क्या है?] वाक्य के अर्थ का ज्ञान शाब्दज्ञान है। उसका करण शब्द है।

व्याख्या—शाब्दज्ञान जो कि प्रमा है उसका करण है 'शब्द'। यहाँ शब्द से तात्पर्य है 'वाक्य' या 'पदसमूह'। नव्यनैयायिक पदज्ञान को करण मानते हैं। जैसा कि कारिकावली (८१) में विश्वनाथ ने कहा है—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥

अर्थ—शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान करण है, पदार्थज्ञान व्यापार (द्वार) है, शाब्दबोध फल है और शक्तिज्ञान सहायक है। अर्थात् 'शक्तिज्ञानसहकृतपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिः शाब्दबोधं प्रति कारणम्' शक्तिज्ञान से सहकृत पदज्ञान से उत्पन्न पदार्थ की उपस्थिति (स्मरण) शाब्दबोध के प्रति कारण है।

वैशेषिक शब्दप्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव मानते हैं—'एते पदार्थाः परस्परसंसर्गवन्तः, आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्पद-स्मारितत्वात्, दण्डेन गामानयेति पदस्मारितपदार्थवत्'। वस्तुतः अनुमिति से शाब्दबोध भिन्न है।

इसी सन्दर्भ में प्रमाणों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा दीपिका टीका में की गई है। संक्षेप में सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य

दोनों को स्वतः (ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही उसकी प्रमाणता एवं अप्रमाणता का ज्ञान होना) मानते हैं। नैयायिक दोनों को परतः (जहाँ ज्ञान की ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा उस ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का निश्चय किया जाता है) मानते हैं, अतः वे वेदों का भी प्रामाण्य ईश्वर के द्वारा रचित होने से मानते हैं। उनका कहना है कि यदि प्रामाण्य स्वतः मानेंगे तो संशयादि नहीं होंगे। मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं। बौद्ध प्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः मानते हैं। जैन ज्ञप्ति की अपेक्षा अभ्यास दशा में दोनों को स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः मानते हैं परन्तु उत्पत्ति की अपेक्षा न्यायमत का अनुसरण करते हैं।

(ङ) अथाऽवशिष्टगुणनिरूपणम्

[अयथार्थानुभवस्य कति भेदाः ?] अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशय-विपर्यय-तर्कभेदात्। [संशयस्य किं लक्षणम् ?] एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। [विपर्ययस्य किं लक्षणम् ?] मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तौ रजतमिति। [तर्कस्य किं स्वरूपम् ?] व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकाऽऽरोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

अनुवाद—[अयथार्थानुभव के कितने भेद हैं ?] अयथार्थ अनुभव संशय, विपर्यय और तर्क के भेद से तीन प्रकार का है। [संशय का क्या लक्षण है ?] एक धर्मि में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों से विशिष्ट होने का ज्ञान संशय है। जैसे—यह स्थाणु है अथवा पुरुष। [विपर्यय का क्या लक्षण है ?] मिथ्याज्ञान विपर्यय है। जैसे सीप में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान। [तर्क का क्या लक्षण है ?]

व्याप्य के आरोप (आहार्यज्ञान) से व्यापक का आरोप करना तर्क है। जैसे—यदि आग न होती तो धूम भी नहीं होता।

व्याख्या—प्रमारूप यथार्थानुभव के चारों भेदों का निरूपण पहले किया जा चुका है। यहाँ अप्रमारूप अयथार्थानुभव का निरूपण क्रम प्राप्त है। जो पदार्थ जैसा नहीं है उसे वैसा समझना अप्रमा है 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः'। यह अयथार्थानुभव तीन प्रकार का है—संशय, विपर्यय (भ्रम) और तर्क। कुछ लोग तर्क को विपर्यय के ही अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि तर्क में आहार्य विपर्यास होता है। तीनों के स्वरूप निम्न हैं—

(१) **संशय**—'एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः' किसी एक धर्मी (अधिकरण = एक ही पुरोवर्ती पदार्थ) में विरुद्ध अनेक धर्मों के सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला ज्ञान है 'संशय'। जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष'। 'घटपटौ' इस (घटत्व-पटत्व के अवगाहक) समूहालम्बनात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति हटाने के लिए 'एकस्मिन् धर्मिणि' कहा। समूहालम्बनात्मक ज्ञान में दो धर्मी हैं। 'घटः पृथिवी' यहाँ एक धर्मी में घटत्व और पृथिवीत्व आदि अनेक धर्मों के सम्बन्ध का अवगाहन होने से इसमें लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'विरुद्ध' पद दिया है। घटत्व और पृथिवीत्व दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हैं। इस तरह संशय में दो बातें होती हैं— (१) धर्मी का एक होना तथा (२) उस एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों का ज्ञान।

संशय उभयकोटिक या नानाकोटिक (अनिश्चयात्मक) होता है। न्यायबोधिनीकार का कहना है कि संशय ज्ञान केवल विरुद्ध अनेक-विशेषणक धर्म होने से ही नहीं होता अपितु उसमें उन विशेषणीभूत अनेक धर्मों को भाव एवं अभाव स्वरूप भी होना चाहिए। जैसे—'यह स्थाणु है या पुरुष' इस स्थल में दो संशय हैं—(१) यह स्थाणु है या नहीं। (२) यह पुरुष है या नहीं। अर्थात् केवल भावद्वयकोटिक संशय अप्रसिद्ध है। संशय को हमेशा भाव + अभाव

कोटिक होना चाहिए। अतः उन्होंने संशय का लक्षण किया है—'एकधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितभावाभावप्रकारकज्ञानं संशयः'।

(२) **विपर्यय**—'मिथ्याज्ञानं विपर्ययः' मिथ्याज्ञान (जो जहाँ नहीं है वहाँ उसे समझना) विपर्यय है। इसे भ्रम भी कहते हैं। जैसे सीप को देखकर 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान होना विपर्यय है। इसमें अयथार्थ ज्ञान का निश्चय रहता है जबकि संशय में निश्चय नहीं होता है।

(३) **तर्क**—'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः तर्कः' व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। जैसे—'यदि पर्वत में आग नहीं होती तो वहाँ धूम भी नहीं होता'। वह्न्यभाव व्याप्य है और धूमाभाव व्यापक। इस तरह तर्क व्याप्तिज्ञान कराने में सहायक होता है। कारिकावली (१३७) में तर्क का निर्वचन करते हुए कहा है—

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः॥

अर्थ—व्यभिचार के अग्रहण तथा सहचार के ग्रहण को व्याप्तिग्रहण में कारण माना जाता है, यदि कहीं व्यभिचार की शङ्का हो जाए तो उसको दूर करने वाला तर्क होता है।

इस तरह तर्क व्याप्तिज्ञान में होने वाली शङ्का को दूर करता है। अतः इसका निषेधात्मकव्याप्ति जैसा स्वरूप बनता है—'यदि पर्वत में वह्न्यभाव होता तो धूमाभाव भी होता'। यद्यपि यह वाक्यावली व्यतिरेकव्याप्ति जैसी लग रही है परन्तु यह व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है। व्यतिरेकव्याप्ति में पूर्ण निश्चय होता है तथा व्याप्ति का ज्ञान सामान्यलक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष से होता है। इस व्याप्तिज्ञान में यदि कोई संदेह पैदा हो जाये तो उसे तर्क से दूर किया जाता है, अतः तर्क के स्वरूप में 'यदि' पद जोड़ा गया है।

तर्क एक सम्भावनामूलक आहार्य ज्ञान है। निम्न उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लो किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं है, उसके यथार्थ स्वरूप को जानने की सर्वप्रथम उसमें इच्छा (जिज्ञासा) होती है। पश्चात् उभयकोटिक संशय (यह है अथवा नहीं) पैदा होता है। तदनन्तर विमर्श द्वारा एक का यथार्थ निश्चय होता है। इस तरह संशय के बाद तर्क एककोटिक यथार्थ निश्चय कराने में सहायक होता है। इसीलिए इसे संशय और विपर्ययसे पृथक् गिनाया जाता है।

[स्मृतिः कतिविधाः ?] स्मृतिरपि द्विविधा—यथार्था अयथार्था चेति। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्या अयथार्था।

अनुवाद—[स्मृति कितने प्रकार की है ?] स्मृति भी दो प्रकार की है—यथार्था और अयथार्था। प्रमा (यथार्थज्ञान) से उत्पन्न यथार्था है और अप्रमा (अयथार्थज्ञान) से उत्पन्न अयथार्था है।

व्याख्या—'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इस प्रकार स्मृति का लक्षण बुद्धि गुण के निरूपण-प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। उसीके यहाँ दो भेद किए गये हैं। जो स्मृति यथार्थ अनुभव से होने वाले संस्कार से जन्य है वही यथार्था स्मृति है और जो अयथार्थ अनुभव से होने वाले संस्कार से जन्य है वह अयथार्था स्मृति है। इस तरह स्मृति की यथार्थता और अयथार्थता अनुभव की यथार्थता एवं अयथार्थता पर निर्भर है।

[१७-१८. सुखदुःखयोः के लक्षणे ?] सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।

अनुवाद—[१७-१८. सुख और दुःख के क्या लक्षण हैं ?] जो सबको अनुकूल प्रतीत हो वह सुख है। जो सबको प्रतिकूल प्रतीत हो वह दुःख है।

व्याख्या--सुख सभी प्राणी चाहते हैं और दुःख कोई नहीं चाहता है। दुःखाभाव ही सुख नहीं है क्योंकि सुख भावात्मक गुण है। 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' (मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ) इस अनुभव से इनकी सत्ता सिद्ध होती है। कोई वस्तु यदि किसी को सुखजनक है तो वही दूसरे को दुःखजनक भी हो सकती है। अतः न्यायबोधिनी में सुख-दुःख के क्रमशः लक्षण हैं—१. 'इतरेच्छाऽनधीनेच्छाविषयत्वम्'। २. 'इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वम्'।

[१९-२१. इच्छा-द्वेष-प्रयत्नानां कानि लक्षणानि ?] इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः।

अनुवाद--[१९-२१. इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के क्या लक्षण हैं ?] कामना इच्छा है। क्रोध द्वेष है। कृति प्रयत्न है।

व्याख्या--जिसके होने पर प्राणी किसी कार्य के लिए प्रयत्न करता है, वही है इच्छा। इसे ही काम = कामना भी कहते हैं (प्रयत्नजनकगुणत्वं कामत्वरूपं वा)। जिसके होने पर प्राणी किसी कार्य से निवृत्त होवे वह है 'द्वेष'। क्रोध भी एक प्रकार का द्वेष है (निवृत्तिजनकगुणत्वं क्रोधत्वरूपं वा)। यद्यपि क्रोधस्थल में भी शत्रु को मारने के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है परन्तु उस प्रवृत्ति के प्रति क्रोध कारण नहीं है, अपितु क्रोधप्रयुक्त निवृत्ति की रक्षा के लिए इच्छा और प्रयत्न होने पर ही शत्रु को मारने की चेष्टा होती है। चेष्टा के प्रति कारणीभूत गुण है 'प्रयत्न' (चेष्टाजनकगुणत्वम्)। स्वयं चेष्टा प्रयत्न नहीं है। इच्छात्व, द्वेषत्व और प्रयत्नत्व ये जातियाँ हैं।

[२२-२३. धर्माधर्मयोः के लक्षणे ?] विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः]

अनुवाद--[२२-२३. धर्म और अधर्म के क्या लक्षण हैं ?] विहित (वेदादि धर्मग्रन्थोक्त विधि से विहित) कर्मों से उत्पन्न [अदृष्ट] धर्म है। निषिद्धकर्मों से उत्पन्न [अदृष्ट] अधर्म है।

व्याख्या—धर्म और अधर्म ये दोनों अदृष्ट के ही प्रकार हैं। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदशास्त्रोपदिष्ट याग, दान, पूजन आदि क्रियाओं से जन्य गुण है 'धर्म' और 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादि निषिद्ध पापादि क्रियाओं के करने से 'अधर्म' होता है।

[आत्ममात्रविशेषगुणाः के ?] बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य।

अनुवाद--[केवल आत्मा में रहने वाले विशेष गुण कौन हैं ?] बुद्धि आदि (सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म) आठ केवल आत्मा में रहने वाले विशेष गुण हैं। बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये नित्य और अनित्य हैं। ईश्वर के नित्य और जीव के अनित्य हैं।

व्याख्या—बुद्धि आदि आठ गुण केवल आत्मा में पाये जाते हैं। इनमें बुद्धि (ज्ञान), इच्छा और प्रयत्न ये तीन गुण जीवात्मा में अनित्य गुण हैं और परमात्मा में नित्य हैं।

प्रश्न—आत्मत्व जाति जब जीवात्मा और ईश्वर दोनों में है तो ईश्वर में भी सुख-दुःख की उत्पत्ति होना चाहिए।

उत्तर—कुछ लोग ईश्वर में आत्मत्व जाति मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। जो ईश्वर में आत्मत्व जाति नहीं मानते हैं उनके यहाँ तो यह प्रश्न बेकार है परन्तु जो ईश्वर में आत्मत्व जाति मानते हैं उनका कहना है कि ईश्वर में अदृष्ट आदि निमित्तकारण के न होने से उसमें सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। कुछ का कहना है कि जो धर्म स्वरूपयोग्य हैं उन्हें उत्पन्न होना ही चाहिए यह आवश्यक नहीं है, जैसे—परमाणु में नित्य स्नेह रहता है और उसमें जन्य स्नेह की योग्यता भी है परन्तु परमाणु में जन्य स्नेह कभी उत्पन्न नहीं

होता है। अतः ईश्वर में आत्मत्व जाति के रहने के कारण तथा सुख-दुःख की स्वरूपयोग्यता होने पर भी वे उत्पन्न नहीं होते हैं।

जो ईश्वर में आत्मत्व जाति नहीं मानते हैं उनके मत से आत्मत्व जाति केवल जीवों में रहती है। द्रव्य की संख्या दस न हो एतदर्थ वे आत्मा के स्थान पर 'ज्ञानवत्' द्रव्य मानते हैं। वस्तुतः न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को बाद में स्वीकार किया गया है। स्वीकृत नौ द्रव्यों की संख्या का अतिक्रमण न हो इसीलिए यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है।

[२४. संस्कारः कतिविधः तद्भेदाश्च किं स्वरूपाः ?] संस्कारस्त्रिविधः—वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति । वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनो (-मात्र) वृत्तिः । अनुभवजन्यास्मृति-हेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः । अन्यथाकृतस्य पुनस्तदव-स्थापादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः ।

[इति गुणनिरूपणम्]

अनुवाद—[२४. संस्कार कितने प्रकार का है और उसके भेदों के स्वरूप क्या हैं ?] संस्कार तीन प्रकार के हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। वेग पृथिवी आदि चार (पृथिवी, जल, तेज, वायु) तथा मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न तथा स्मृति का कारण भावना है जो केवल आत्मा में रहती है। अन्यथाकृत को पुनः उसी अवस्था में ला देने वाला स्थितिस्थापक है जो चटाई आदि पृथिवी में रहता है।

[गुण निरूपण समाप्त]

व्याख्या—संस्कार तीन प्रकार का है—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। यद्यपि ये तीनों भेद भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं फिर भी इनकी गिनती संस्कार के अन्तर्गत की जाती है। 'वेगभावना-

स्थितिस्थापकान्यतमत्वं संस्कारत्वम्' यह संस्कार का लक्षण है जिसे दीपिकाकार ने 'सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्य-जातिमत्त्वं संस्कारत्वम्' (सामान्य गुण और आत्मा में रहने वाला विशेषगुण इन दोनों में रहने वाली गुणत्वव्याप्य जाति जहाँ रहती है उसे संस्कार कहते हैं)। वेग और स्थितिस्थापक सामान्य गुण हैं तथा भावना विशेष गुण है। वेग पृथिव्यादि चार तथा मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है। भावना केवल आत्मा में रहती है। स्थिति-स्थापक चटाई आदि पार्थिव द्रव्यों में रहता है। कुछ लोग पृथिवी आदि चारों द्रव्यों में स्थितिस्थापक को मानते हैं। तीनों के स्वरूप निम्न हैं—

(१) **वेग**—'द्वितीयादिपतनाऽसमवायिकारणत्वे सति गुणत्वं वेगत्वम्' (द्वितीय आदि पतन के असमवायिकारण गुण को वेग कहते हैं)। आद्य पतन का असमवायिकारण गुरुत्व गुण है। वेग दो प्रकार का है—कर्मज (कर्म से जन्य) और वेगज (वेग से उत्पन्न)। वेग के विना कर्म स्थायी होगा, अतः इसे मानना आवश्यक है।

(२) **भावना**—'अनुभवजन्यत्वे सति स्मृतिहेतुत्वम्' (अनुभव से उत्पन्न होने वाला और स्मृति का जनक गुण भावना है)। भावना को स्वीकार किए विना स्मरण नहीं हो सकता है। संस्कार से सामान्यतः भावना को ही समझा जाता है। भावना केवल आत्मवृत्ति वाला अतीन्द्रिय गुण है।

(३) **स्थितिस्थापक**—'अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापकः स्थिति-स्थापकः' (पेड़ों की शाखा आदि को नत करके छोड़ने पर पुनः उन्हें पूर्वस्थान पर पहुँचाने वाला संस्कार स्थितिस्थापक है)। दीपिका में लक्षण दिया है 'पृथिवीमात्रसमवेतसंस्कारत्वव्याप्यजातिमत्त्वं स्थितिस्थापकत्वम्'।

[गुण निरूपण समाप्त]

४. कर्मादिशेषपदार्थलक्षणप्रकरणम्

[कर्मणः किं लक्षणम् ?] चलनात्मकं कर्म । ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम् । अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम् । शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम् । विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम् । अन्यत्सर्वं गमनम् । (पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्ति) ।

अनुवाद—[कर्म का क्या लक्षण है ?] चलनात्मक (चलन, कम्पन, स्पन्दन आदि क्रियायें) कर्म है । ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग का हेतु उत्क्षेपण है । अधोदेश के साथ संयोग का हेतु अपक्षेपण है । शरीर के समीप संयोग का कारण आकुञ्चन है । शरीर से दूर संयोग का कारण प्रसारण है । अन्य सब गमन है । (पृथिव्यादि चार तथा मन में ये रहते हैं) ।

व्याख्या—'उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारत्वं गमनत्वम्' उत्तरदेश से संयोग के अनुकूल व्यापार को गमन कहते हैं । गमन में उत्क्षेपणादि से भिन्न समस्त क्रियायें समाहित हैं । विशेष के लिए देखिए पृष्ठ ८ से ९.

[सामान्यस्य किं लक्षणम् ?] नित्यमेकमनेकाऽनुगतं सामान्यम् । द्रव्यगुणकर्मवृत्ति । तद् द्विविधं पराऽपरभेदात् । परं सत्ता । अपरं द्रव्यत्वादि ।

अनुवाद—[सामान्य का क्या लक्षण है ?] जो नित्य और एक होकर अनेकों में अनुगत रहे वह सामान्य है । वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है । पर और अपर के भेद से वह दो प्रकार का है । पर सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाला सामान्य है । अपर द्रव्यत्व (सत्ता की अपेक्षा अल्प देश वृत्ति) आदि हैं ।

व्याख्या- देखिए पृष्ठ ९ से ११.

[विशेषाणां किं लक्षणम् ?] नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः ।

अनुवाद—[विशेषों का क्या लक्षण है ?] नित्य द्रव्यों में रहने वाले व्यावर्तकों (नित्य द्रव्यों के भेदक तत्त्वों को) विशेष कहते हैं ।

व्याख्या—विशेषों के लक्षण में 'आत्मत्वमनस्त्वभिन्नाः' इस पद को भी जोड़ देना चाहिए अन्यथा आत्मत्व और मनस्त्व में लक्षण अतिव्याप्त होगा क्योंकि आत्मत्व और मनस्त्व ये दोनों जातियाँ नित्यद्रव्यवृत्ति हैं तथा पृथिवीत्व आदि की व्यावर्तक भी हैं । विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ ११–१२.

[समवायस्य किं लक्षणम् ?] नित्यसम्बन्धः समवायः । अयुतसिद्धवृत्तिः । ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यद् (अवस्थम्)-अपराश्रितमेवाऽवतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । यथा अवयवाऽवयविनौ, गुण-गुणिनौ, क्रिया-क्रियावन्तौ, जाति-व्यक्ती, विशेष-नित्यद्रव्ये चेति ।

अनुवाद—[समवाय का क्या लक्षण है ?] नित्य सम्बन्ध समवाय है । वह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है । जिन दो के बीच में एक (अवस्था) जब तक नष्ट न हो जाए तब तक दूसरे के आश्रित ही रहे वे दोनों अयुतसिद्ध होते हैं । जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति एवं विशेष और नित्यद्रव्य ।

व्याख्या—'स्वरूपसम्बन्धभिन्नत्वे सति नित्यसम्बन्धत्वं समवायत्वम्' ऐसा लक्षण समवाय का करना चाहिए जिससे स्वरूपसम्बन्ध में अतिव्याप्ति न हो । घट (अवयवी) जब रहेगा तो कपाल (अवयव) में ही रहेगा, अतः वे दोनों अयुतसिद्ध हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । विशेष के लिए देखिए पृष्ठ १२–१३.

[प्रागभावादीनां कानि लक्षणानि ?] अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति।

अनुवाद—[प्रागभावादि के क्या लक्षण हैं ?] जिसकी उत्पत्ति तो न हो (अनादि) परन्तु नष्ट होता हो (सान्त) वह प्रागभाव है। जैसे—उत्पत्ति से पहले कार्य का प्रागभाव है। जो उत्पन्न तो होता हो (सादि) परन्तु नष्ट न होता हो (अनन्त) वह प्रध्वंसाभाव है। जैसे—उत्पत्ति के बाद कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है। जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न (युक्त) है और जो तीनों कालों में रहे वह अत्यन्ताभाव है। जैसे—पृथिवी पर घड़ा नहीं है। जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो वह अन्योन्याभाव है। जैसे—घट पट नहीं है।

व्याख्या—अभाव का विचार पृष्ठ १३ से १६ पर किया जा चुका है। यहाँ उसी का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। अभाव प्रथमतः दो प्रकार का है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव तीन प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का है। 'संसर्ग' शब्द का अर्थ है 'वृत्तिनियामक संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध'। तादात्म्य सम्बन्ध भी सम्बन्ध है परन्तु वह वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु (आधेय) का किसी दूसरी वस्तु (आधार) में रहना आधेयता है और वही वृत्ति है अर्थात् वृत्तिनियामक सम्बन्ध उन वस्तुओं में होता है जिसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु में संयोग, समवाय आदि में से किसी सम्बन्ध से रहती है। जैसे—कपाल (अवयव) में घट (अवयवी)

समवायसम्बन्ध से रहता है, भूतल पर घट संयोग सम्बन्ध से रहता है। ये सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं। अतः जब यह कहा जाता है कि भूतल में घटाभाव है तो इसका अर्थ है 'भूतल में घट का संयोग नहीं है'। न्याय की भाषा में इसे कहेंगे—'संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः' अर्थात् संयोग सम्बन्ध से प्रतियोगी (घट) के भूतल में रहने का अभाव है। कपाल में घट के अभाव को कहेंगे 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः'। इस तरह जहाँ संयोगादिसम्बन्धघटितप्रतियोगिता का अभाव बतलाया जाता है वहाँ संसर्गाभाव होता है। जहाँ इससे भिन्न सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से प्रतियोगिता का अभाव बतलाया जाता है वहाँ अन्योन्याभाव होता है।

तादात्म्य सम्बन्ध से वस्तु अपने में ही रहती है किसी अन्यवस्तु में नहीं। जैसे घट तादात्म्य सम्बन्ध से घट में ही रहता है। अतः इस अभाव में प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना होती है। जैसे—'घट पट नहीं है' इसका अर्थ है घट के साथ पट का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है (घट का तादात्म्य पट में नहीं है, घट में ही है)। अतः इसमें 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः' होता है। अर्थात् घट को छोड़कर अन्यत्र पट आदि सभी में घट का तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव रहेगा।

इस तरह तीनों प्रकार के संसर्गाभावों में प्रतियोगिता संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों से अवच्छिन्न (विशिष्ट) रहती है और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना होती है। जैसे 'भूतले घटो नास्ति' यहाँ संसर्गाभाव (अत्यन्ताभाव) है क्योंकि यहाँ संयोगसम्बन्धावच्छिन्नभूतलनिष्ठघटाभाव बतलाया गया है। 'भूतलं घटो न' यहाँ अन्योन्याभाव है क्योंकि यहाँ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव है। अतः जब भी अभाव का विचार किया जाता है तो वह किसी न किसी सम्बन्ध से बतलाया जाता है।

वस्तु जहाँ जिस सम्बन्ध से रहती है वहाँ अभाव भी उसी सम्बन्ध से बतलाया जाता है, अतः प्रतियोगिता भी उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। चारों अभावों का स्वरूप होगा—

(१) **प्रागभाव**—तन्तुओं में पट के उत्पन्न होने के पूर्व पट के अभाव को पट-प्रागभाव कहते हैं। तन्तुओं में यह अभाव अनादि-काल से चला आ रहा है। जब तन्तुओं में पट उत्पन्न हो जाता है तो पट-प्रागभाव समाप्त हो जाता है। इस तरह प्रागभाव अनादि तो है परन्तु सान्त है। यहाँ तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से पट के रहने का अभाव बतलाया गया है। पट जो इस प्रागभाव का प्रतियोगि है वह तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः यह समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव हुआ।

(२) **प्रध्वंसाभाव**—तन्तुओं में पट के उत्पन्न होने के बाद जब पुनः तन्तु अलग-अलग हो जाते हैं तो पट का विनाश हो जाता है। इसे ही पट का ध्वंस कहते हैं अर्थात् भग्न तन्तुओं में पट का ध्वंसाभाव हो गया। इस तरह यह अभाव तन्तुओं के संयोग के नाश से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के बाद हमेशा बना रहता है, अतः इसे सादि और अनन्त कहा है। यहाँ भी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है क्योंकि भग्न तन्तुओं में इसी सम्बन्ध से पटाभाव बतलाया जा रहा है।

यदि कोई उन भग्न तन्तुओं पर कोई दूसरा पट लाकर रख दे तब भी पटाभाव वहाँ रहेगा क्योंकि संयोग सम्बन्ध से वहाँ पटाभाव नहीं बतलाया गया है अपितु समवाय सम्बन्ध से बतलाया गया है। अतः सभी अभावों में सम्बन्ध का बड़ा महत्त्व है। यदि कोई उन तन्तुओं को पुनः जोड़ दे तो भी ध्वंसाभाव रहेगा क्योंकि वह नया पट उत्पन्न हुआ है पुराने पट का तो ध्वंस बना ही है।

प्रश्न—क्या ध्वंस का भी ध्वंस होता है ?

उत्तर—नहीं, ध्वंस का ध्वंस मानने पर वह सद्भाव रूप होगा, जो अभीष्ट नहीं है।

(३) **अत्यन्ताभाव**—इसे नित्य संसर्गाभाव भी कहते हैं। यह न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, अपितु त्रैकालिक है। प्राचीन नैयायिक वायु में रूप के अभाव (समवाय सम्बन्ध से) को अत्यन्ताभाव कहते हैं क्योंकि वह त्रैकालिक है। भूतल में जो घटाभाव (संयोग सम्बन्ध से) है उसे उत्पत्ति और विनाश वाला (घट हटाने से होने वाला और घट लाकर रखने से नष्ट होने वाला) होने से पृथक् मानते हैं परन्तु नवीन नैयायिक दोनों को नित्य (त्रैकालिक) अत्यन्ताभाव मानते हैं। उनके मत से घट के ले आने पर भी घाटाभाव बना रहता है क्योंकि वह नित्य और व्यापक है। विशेष के लिए देखें न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि आदि ग्रन्थ।

(४) **अन्योन्याभाव**—यह भी नित्य अभाव है परन्तु इसमें प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बान्धावच्छिन्ना होती है। पृथक्त्व गुण से इसका भेद है, यह पृथक्त्व गुण के विवेचनप्रसङ्ग में (पृ० ३९) कहा जा चुका है।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगी के समवायिकारण में रहते हैं। अत्यन्ताभाव दो पदार्थों में संसर्ग (संयोगादि सम्बन्ध) का और अन्योन्याभाव तादात्म्य का निषेध करता है। मीमांसकों एवं वेदान्तियों के अनुसार अभाव केवल अधिकरणरूप है।

[उपसंहारः] सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ॥

[इति श्रीमहामहोपाध्यायान्नम्भट्टविरचितस्तर्कसंग्रहः समाप्तः]

अनुवाद—[उपसंहार] सभी पदार्थों का यथोचितरूप में उक्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण सात ही पदार्थ हैं, यह सिद्ध होता है।

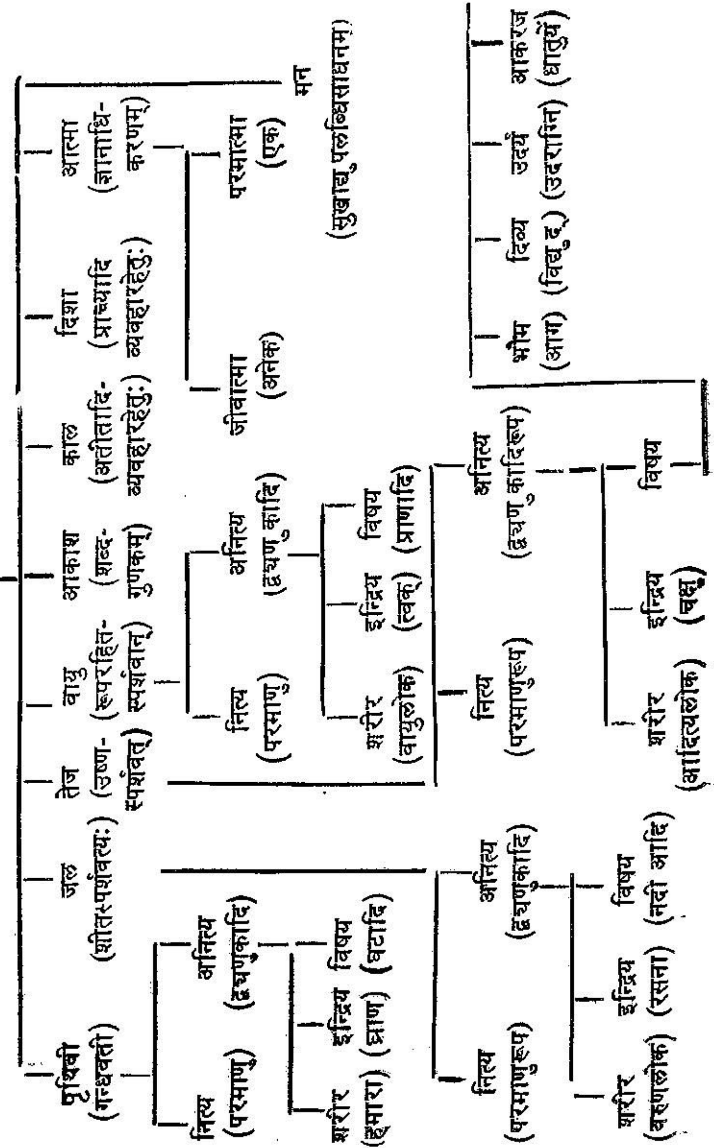
कणाद (कणादस्येदं काणादम्) और न्याय के मतों में बालकों की व्युत्पत्ति (कुशलता) की सिद्धि के लिए विद्वान् अन्नभट्ट ने तर्कसंग्रह बनाया।

[श्री महामहोपाध्याय अन्नम्भट्टविरचित तर्कसंग्रह समाप्त]

व्याख्या—शक्ति, सादृश्य आदि समस्त पदार्थों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों में ही हो जाने से सात ही पदार्थ हैं।

न्यायदर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव (प्रतिज्ञा आदि), तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ माने गये हैं। इन सोलह पदार्थों में जल्प से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त छः पदार्थों का मुख्य लक्ष्य है 'विपक्षियों के सिद्धान्तप्रतिपादन में दोषों का उद्घाटन, उनका खण्डन और स्वपक्ष का संरक्षण'। प्रमेय बारह हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग (मोक्ष)। इसका विचार दीपिका टीका में तथा न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में किया गया है, अतः वहीं से देखना चाहिए।

॥ हिन्दी मनीषा-व्याख्या समाप्त ॥



(२) द्रव्य-विभाजन के अन्य प्रकार :—

१—[क] एक—आकाश, काल, दिशा और परमात्मा ।

[ख] अनेक—शेष सभी ।

२—[क] नित्य (ध्वंसाप्रतियोगित्वम्)—आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, पृथिव्यादि के परमाणु ।

[ख] अनित्य—द्व्यणुकादि ।

[ग] नित्यानित्य—पृथिव्यादि चार ।

३—[क] व्यापक (सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्)—आकाश, काल, दिशा, आत्मा ।

[ख] एकदेशवर्ती—मन, परमाणु ।

[ग] एकादिदेशवर्ती—पृथिव्यादि चार ।

४—[क] भूत (समवायिकारणत्वम् या बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्)—पृथिवी से आकाश तक ।

[ख] अभूत—शेष सभी ।

५—[क] मूर्त (क्रियावद्द्रव्यत्वम् या परिच्छिन्नपरिमाणत्वम्)—पृथिव्यादि चार तथा मन ।

[ख] अमूर्त—शेष सभी ।

(३) न्याय-वैशेषिकदर्शन के प्रमुख आचार्य

न्यायदर्शन के आचार्य	वैशेषिकदर्शन के आचार्य
गौतम (न्यायसूत्र)	कणाद (वैशेषिकदर्शन)
वात्स्यायन (भाष्य)	रावण (भाष्य)
उद्योतकर (भाष्यवार्तिक)	प्रशस्तपाद (पदार्थधर्मसंग्रह)
वाचस्पतिमिश्र I (तात्पर्यटीका)	उदयनाचार्य (किरणावलि)
जयन्तभट्ट (न्यायमञ्जरी)	श्रीधराचार्य (कन्दली)
भासर्वज्ञ (न्यायसार-स्वोपज्ञटीका)	वल्लभाचार्य (न्यायलीलावती)
उदयनाचार्य (न्यायकुसुमाञ्जलि)	शङ्करमिश्र (उपस्कार)
गङ्गेश उपाध्याय (तत्त्वचिन्तामणि)	विश्वनाथ (कारिकावली)
विश्वनाथ (कारिकावली)	अन्नम्भट्ट (तर्कसंग्रह)